द्विमासिक पत्रिका
सितंबर–अक्तूबर 2025

बेग़मपुरा

सभ्यता का आह्वान

साहित्य का आंदोलन-आंदोलन का साहित्य

संवाद का मंच

सीधा संवाद

डॉ. दीपा श्रावस्ती,
डॉ. विभीषण कुमार,
ईश कुमार गंगानिया

कथा-कहानी

डॉ. जनार्दन,
मार्टिन जॉन,
डॉ. कनक लता

आमंत्रित कवि

डॉ. संतोष पटेल
सुनील कुमार कर्दम

भारत का अन्तर्मन

मूलनिवासी सभ्यता संघ के साहित्यिक अंग इंडियन नेशनल लिटरेचर कॉफ्रेंस की वेबसाइट का लोकार्पण करते हुए बामसेफ के राष्ट्रीय अध्यक्ष मू. आर एल ध्रुव, मूलनिवासी सभ्यता संघ के अध्यक्ष मू. सुनील कुमार,, मू.स.सं. धनंज्य धाकेर्डे, मुख्य अतिथि वरिष्ठ अधिवक्ता मू. गुरु प्रसाद मदन, प्रसिद्ध कवयित्री विद्या राजेंद्र मोरे और इंडियन नेशनल लिटरेचर कॉफ्रेंस के राष्ट्रीय प्रभारी मू. शीलबोधि तथा अन्य।

हमारे बारे में

'बेग़मपुरा: सभ्यता का आह्वान' द्विमासिक पत्रिका है, जिसका इंडियन नेशनल लिटरेचर कॉफ्रेंस उपक्रम मूलनिवासी सभ्यता संघ द्वारा पीडीएफ प्रारूप में वेबबेस प्रकाशन किया जा रहा है। इसका प्रबंधन, वेब प्रकाशन मई–जून 2025 से किया जा रहा है। यह पत्रिका अंबेडकरवादी विचारधारा से परिचालित है जिसमें तथागत गौतम बुद्ध, रैदास, कबीर, फुले व पेरियार से लेकर मौजूदा मानवतावादी दर्शन शामिल हैं। समाज में समता, स्वतंत्रता, बंधुता की स्थापना हेतु यह पत्रिका मैत्री, प्रेम और सहिष्णुता की भावना को बढ़ाने का कार्य करती है। समाज में उपेक्षित–अधिकारविहीन व्यक्ति को अपने अधिकारों के प्रति जागरूक करना, संविधान की उद्देशिका के अनुरूप भारतीय समाज का मानस तैयार करना तथा भौतिक बुद्धिवाद की भारतीय सभ्यता का विकास करना इस पत्रिका उद्देश्य है।

पत्रिका के लिए सामग्री भेजते समय ध्यान रखने योग्य बातें

✎साहित्यिक रचनाओं के पुनर्पाठ, आलोचना के पूर्व प्रतिमानों की पुनर्व्याख्या करते हुए शोध आलेख, आलोचकों की आलोचना, पुस्तकों को आधार बनाकर लिखें गए लेख, समसामयिक और ऐतिहासिक महत्व की पुस्तकों पर आधारित सूचनापरक लेख, बहुजन साहित्य की धारा जैसे दलित–आदिवासी–पिछड़ा वर्ग के बहुजन नायकों, कलाओं, गीतों और पेशों की जानकारी देते शोधपरक लेख।

✎सामग्री की शब्द सीमा 3 से 5 हजार है। सभी प्रकाशकीय सामग्री यूनिकोड में टाइप और अप्रकाशित होनी चाहिए। भाषिक शालीनता का ख्याल रखा जाए।

✎प्रकाशित होने वाली सामग्री का चयन संपादक मंडल द्वारा किया जाएगा।

✎संपादक को मूल भावना के अनुरूप आंशिक संशोधन/टिप्पणी करने का अधिकार होगा।

बेगम़पुरा
सभ्यता का आह्वान
साहित्य का आंदोलन-आंदोलन का साहित्य

वर्ष 1 | अंक 3 | सितंबर-अक्तूबर 2025 | दिल्ली

परामर्श मंडल

मा. बुद्धशरण हंस, मा. द्वारका भारती, मा. कर्मशील भारती, डॉ. कुसुम वियोगी, मा. विपिन बिहारी

पूर्व समीक्षक

प्रो. (डॉ.) नीलम, लक्ष्मीबाई कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।

प्रो. (डॉ.) गोरख निळोबा बनसोडे (शोध निदेशक), हिंदी विभाग सरदार बाबासाहेब माने महाविद्यालय, सातारा, संबद्ध-शिवाजी विश्वविद्यालय, कोल्हापुर, महाराष्ट्र।

डॉ. प्रभाकर निसर्गंध, एसोसिएट प्रोफेसर, श्रीविजय सिंह यादव कॉलेज, पेठ गांव, कोल्हापुर सबंद्ध -शिवाजी विश्वविद्यालय, कोल्हापुर, महाराष्ट्र।

डॉ. देवी प्रसाद (आचार्य), सेठ नन्दकिशोर पटवारी राजकीय महाविद्यालय, नीम का थाना, संबद्ध -पंडित दीनदयाल उपाध्याय शेखावाटी विश्वविद्यालय, सीकर, राजस्थान।

प्रो. (डॉ.) सनोज कुमार, श्यामलाल कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।

संपादक मंडल

डॉ. नीलिमा बागड़े, डॉ. श्यामसुंदर मिरजकर, डॉ. हरे राम सिंह, डॉ. अमित धर्मसिंह डॉ. पूरन सिंह

☎9407352073 ☎9421212352 ☎8544034280 ☎9310044324 ☎9868846388

प्रधान संपादक

दयाराम ☎9368125292

|

कार्यकारी संपादक

शीलबोधि ☎9971566918

सहायक कार्यकारी संपादक

डॉ. सरिता ☎9999039617 | मा. राजेंद्र प्रसाद ☎9268798084

प्रकाशन प्रबंधन : इंडियन नेशनल लिटरेचर कॉन्फ्रेंस, नई दिल्ली

(मूलनिवासी सभ्यता संघ का उपक्रम)

संपादकीय कार्यालय

527-ए, निकट आंबेडकर पार्क, नेहरु कुटिया, कबीर बस्ती, मल्कागंज, दिल्ली-110007

सहयोग राशि रु. 150 वार्षिक

शब्द संयोजन-सुनील कुमार बौद्ध | **आवरण**-महेश कुमार पासवान

'बेगम़पुराः सभ्यता का आह्वान' में प्रकाशन संबंधी निर्णय संपादक मंडल द्वारा सामूहिक रूप से लिए जाते हैं, प्रकाशित लेखकों के विचार उनके अपने हैं, जिनसे संपादक मंडल की सहमति होना अनिवार्य नहीं है, संपादक मंडल को प्रकाशित होने वाली सामग्री में संशोधन या परिवर्तन करने का अधिकार होगा, 'बेगम़पुराः सभ्यता का आह्वान' से संबंधित सभी विवादास्पद मामले केवल दिल्ली न्यायालय के अधीन होंगे। अंक में प्रकाशित सामग्री के पुनर्प्रकाशन के लिए लिखित अनुमति अनिवार्य है।

'बेगम़पुराः सभ्यता का आह्वान' मूलनिवासी सभ्यता संघ के लिए मू. सुनील कुमार द्वारा ई पत्रिका के रूप में प्रकाशित करते हुए इंडियन नेशनल लिटरेचर कॉन्फ्रेंस की वेबसाइट पर जारी, संपादक **शीलबोधि**

बेग़मपुरा
सभ्यता का आह्वान
साहित्य का आंदोलन-आंदोलन का साहित्य
वर्ष 1 | अंक 3 | सितंबर-अक्तूबर 2025 | दिल्ली

संपादकीय
बेग़मपुरा : अविद्या के विरुद्ध संघर्ष का सफर –**शीलबोधि**☛3

सीधा संवाद
पेरियार का नारी दृष्टिकोण
डॉ. दीपा श्रावस्ती☛7

हिंदी नाटक और रंगमंच : बहुजन की मुक्ति का सवाल –
डॉ. विभीषण कुमार☛12

भारतीय ज्ञान परंपरा में आजीवक
ईश कुमार गंगानिया☛21

काव्य संगीति
संतोष पटेल की कविताएं☛40
सुनील कुमार कर्दम की ग़ज़ल☛44

कथा-कहानी मंच
लखिया की मतारी से दुलारी तक
जनार्दन☛38
उसका वजूद
मार्टिन जॉन☛54
सपनों की औकात
डॉ. कनक लता☛57

रिपोर्ट
दूसरा तीन दिवसीय मूलनिवासी सभ्यता संघ की महासंगीति
मंगल चंद हांसदा☛66

संपादकीय

बेग़मपुरा
अविद्या के विरुद्ध संघर्ष का सफर

शीलबोधि

'**बेग़म**' शब्द नहीं है, एक यात्रा है। इस अर्थ में नहीं कि यह शब्द अरबी से उद्भूत होकर फारसी के मार्फत हिंदी और उर्दू में समाहित हो गया बल्कि इस अर्थ में कि सारभाव में एक विचार ने कई सारे शब्दों पर सवार होकर चार्वाक के सुखवाद से लेकर संतों के बेग़मपुरा तक यात्रा की है। इस यात्रा के मील के कुछ पत्थर समय की गर्त में ढक गए (जैसे अजीत केसकंबल, संजय वेलट्ठिपुत्र, मक्खली गोसाल आदि) तो कुछ अभी भी वैसे ही साफ-साफ दिखाई पड़ रहे हैं, जैसे वे पहले थे, जैसे समण बुद्ध और समण महावीर। यह अलग बात हो सकती है कि हमारे नजर के चश्मों पर मिथ्या अवधारणाओं के आवरणों कीं धूल-सरीखी कई परतें जमा हो गई है। यह हम भारतीयों को सोचना है कि अविद्यापूर्ण अवधारणाओं के चुंगल में दबोचकर रखी गई अपनी नजर की मुक्ति का संग्राम हम कैसे लड़ेंगें।

भारतीय चिंतन में अविद्या से ही मिथ्या दृष्टि अथवा मिथ्या दर्शन विकसित होता है। दुख यानी ग़म की परिस्थिति उत्पन्न होने के पीछे जो अनेक कारण हैं उनमें अविद्या एक प्रमुख कारण है।

दार्शनिक परंपराओं का आमतौर यह दावा होता है कि वे विद्या देने वाले विद्यालय है, यानी स्कूल ऑव थॉट हैं, उनमें से एक भी यह दावा नहीं करते थे या करते हैं कि वे अविद्या देने वाले अविद्यालय हैं।

आजकल भारत में मूलभूत समानताओं के साथ कुछ प्रमुख दार्शनिक स्कूल मौजूद हैं। **वैदिक दार्शनिक स्कूल**–जिसमें ईश्वर, आत्मा, स्वर्ग, और नरक; **ईसाई दार्शनिक स्कूल**–जिसमें गौड, सौल(soul), हेवेन (heaven) और हेल (hell); वहीं **इस्लामिक दार्शनिक स्कूल** में अल्लाह, रूह, जन्नत और जहन्नुम है। ये तीनों दार्शनिक स्कूल मध्य एशिया से भारत में प्रवेश करते हैं और अपने स्वरूप के निर्धारण में एक जैसी ढ़ांचागत समानता रखते हैं, बेशक संरचनात्मक समरूपता नहीं है। एक जमाने में कबीर इन दर्शनों के लिए कह चुके हैं कि 'हिंदू तुर्क अंतर न कोय'। ये तीनों दर्शन एक जैसी अवधारणाओं को पोषित करने वाले है। ये सभी दार्शनिक-स्कूल किताब या किताबों के समूह पर इतना ज्यादा निर्भर हैं कि तार्किक बुद्धि के लिए यहां कोई

स्थान उपलब्ध नहीं है। इन्हें हम ईश्वरवादी दार्शनिक-स्कूल कहते हैं। सिंधु घाटी सभ्यता की विशेषताओं से इनकी दार्शनिक-परंपरा के बिंब, प्रतीक, आदर्श और अवधारणाएं मेल नहीं खाती हैं।

दूसरी तरफ लोकायत, सांख्य, श्रमण, सिद्ध और संतों के दार्शनिक स्कूल के बिंब, प्रतीक, आदर्श और अवधारणाएं सिंधु घाटी सभ्यता से आश्चर्यजनक रूप से मेल खाते हैं। न केवल वैचारिक कुशलता बल्कि स्थापत्य कौशल में भी ढांचागत व संरचनात्मक अभिन्नता दिखाई पड़ती हैं। सिंधु घाटी में जिस पोखर को स्नानागार कहकर पुकारा गया है, वैसा तो बोधगया में भी बौद्ध टेम्पल के पास है, सांची में स्तूप के पास है, स्वर्ण मंदिर के पास है, कबीर मंदिर के पास है। ऐसी समरूपता को साबित करने वाली अनेक चीजें है, जिनका जिक्र यहां विषयांतर के कारण नहीं किया जा सकता है। वैचारिक रूप से इस परंपरा में न ईश्वर का विचार है, न स्वर्ग और नरक का, क्योंकि मूलभारतीय दार्शनिक अनुशासन में इन्हें मिथ्या (अवास्तविक) माना गया है। शब्द और शास्त्र के बजाय यहां प्रकृति और आत्मानुभव को ही प्रमाण और आधार माना जाता है।

भारतीय दर्शन में विद्या और अविद्या को लेकर काफी विवाद हुआ है। **चार्वाक दर्शन**–यहां प्रत्यक्ष को प्रमाण मानना विद्या है, जो पांच ज्ञानेन्द्रियों को अनुभूत नहीं होता, वह अप्रमाणित है और अविद्या है। अनुमान का ज्ञान क्योंकि संदिग्ध है। अनुमान से रस्सी को भी साँप समझा जा सकता है, जोकि अविद्या है। **सांख्य दर्शन**–सांख्य में जीव को 'प्रकृति' और 'पुरुष' में बांटकर द्वैतवाद दिया है। जीव के भौतिक अस्तित्व को पुरुष कहते हैं, और भौतिक अस्तित्व में होने वाली क्रिया को प्रकृति कहते हैं। प्रकृति के होने से पुरुष है और पुरुष के होने से प्रकृति है, लेकिन दोनों परस्पर आश्रित होने के बावजूद अलग-अलग चीज हैं, यही विद्या है। प्रकृति और पुरुष के अंतर्संबंध को समझने के लिए कार्यकारण सिद्धांत है। जो कहता है कि बिना कारण के कार्य नहीं होता है। **उपनिषदों** में भी विद्या पर बात आई है–'ईशावास्य' उपनिषद में विद्या और अविद्या दोनों को जानने पर जोर दिया है, लेकिन 'कठोपनिषद' में दो तरह की विद्या की बात की गई है, एक पराविद्या और दूसरी अपराविद्या। परा का अर्थ है, पराई विद्या और अपरा का अर्थ अपराई विद्या। अपराविद्या में वैदिक साहित्य को रखा गया है तथा पराविद्या में आत्मानुभव की विद्या को रखा गया है। **जैन दर्शन** के अनुसार–जीव में अनंत दर्शन, अनंत ज्ञान, अनंत चरित्र तथा अनंत वीर्य होता है परंतु कर्म पुद्गलों के कारण जीव की शक्ति कम हो जाती है। ऐसी हालत में हमें न केवल कम ज्ञान मिलता है बल्कि अक्सर गलत ज्ञान (मिथ्या ज्ञान) होता है। मिथ्या दर्शन के कारण जीव वास्तविकता से भटक जाता है। मिथ्या दर्शन अकेला बंधन कारक नहीं है, उसके साथी मिथ्या ज्ञान और मिथ्या चरित्र भी हैं, इसलिए केवल सम्यक दर्शन से काम चलेगा नहीं, सम्यक ज्ञान और सम्यक चरित्र की भी आवश्यकता होगी। **बौद्ध दर्शन** के अनुसार–अविद्या ही सब दुखों की जड़ है। इस लोक में जितने भी दुख हैं, सब अविद्यामूलक हैं। चार आर्य सत्यों का ज्ञान न होना, अविद्या है, इसी से दुख उत्पन्न होता है। हमारी दृष्टि अविद्या पर नहीं बल्कि विद्या (वास्तविकता) पर आधारित होनी चाहिए। जैसी हमारी दृष्टि होगी, वैसा ही हमारा ज्ञान होगा। **वैशेषिक दर्शन** कहता है कि अविद्या का स्वरूप मिथ्या ज्ञान का है। मिथ्या ज्ञान में न केवल असलियत को छिपाया जाता है बल्कि झूठ को प्रदर्शित किया जाता है। इसी कारण मिथ्या ज्ञान और मिथ्या विश्वास निर्माण होते हैं, मिथ्या ज्ञान के कारण विविध दोष निर्माण होते हैं, उनके कारण प्रवृत्ति, फिर उसके कारण जन्म और उसके कारण दुख की निर्मिति होती है। शंकराचार्य के **अद्वैत वेदांत** दर्शन में कहा गया है कि ब्रह्म छोटे से छोटा है और बड़े से बड़ा है। मैं ब्रह्मा हूं (अहम् ब्रह्मास्मि) भी सही है, तू वह (ब्रह्म) है (तत्वम् असि) भी सही है, क्योंकि यह सब कुछ ब्रह्म ही हैं। आत्म और ब्रह्म एक ही हैं। उसे पाने के लिए हमें कहीं जाने की जरूरत नहीं है, हर व्यक्ति, उसे अपने अंदर ही पा सकते हैं। अपना यह नित्य शुद्ध-बुद्ध मुक्त सच्चिदानन्द स्वरूप भूल जाना या नहीं देख पाना ही शंकराचार्य की दृष्टि में अविद्या है। अविद्या और माया दोनों शब्दों का प्रयोग शंकराचार्य करते हैं, दोनों का अर्थ लगभग समान है।

प्राचीन भारत में बुद्ध ने अविद्या को दुख का कारण बताया, मध्यकाल में रैदास ने कहा कि जो व्यक्ति तुम्हें अविद्या देता है, वह अपने हितों को साध रहा होता है, न कि तुम्हारे (अविद्या हित किन्हा, मैंने नाम न किसी का लीना)। आधुनिक समय में जोतिबा फुले ने अविद्या का पूरा मैकेनिज्म खड़ा करके बताया कि 'विद्या बिना मति गई, मति बिना नीति गई, नीति बिना गति गई, गति बिना वित्त गया,

वित्त बिना शूद्र गये, इतने अनर्थ एक अविद्या ने किये।'

विद्या और अविद्या के नाम पर ढेरों मत-मान्यताएं दुनियां में चल रही हैं। मत और मान्यताओं से मनुष्य का मानस निर्मित होता है। निर्मित मानस की मदद से सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक सरोकारों में अधिकारों व कर्त्तव्यों की व्यवस्था को नागरिकों पर लागू किया जाता है।

विद्या आधारित व्यवस्था में नागरिकों की स्वाधीनता दिखाई देगी और अविद्या आधारित व्यवस्था में नागरिकों की पराधीनता दिखाई देगी। ईश्वरवादी स्कूलों ने जिन मत-मान्यताओं को सर्जित किया है, उनसे स्वाधीनता की नहीं बल्कि पराधीनता की व्यवस्था खड़ी होती है, क्योंकि आस्तिकता का अर्थ ही पराधीनता है, आस्तिक होना ईश्वरवादी व्यवस्था का आदर्श है। वहीं दूसरी तरफ स्वाधीनता के दर्शन में ईश्वर नहीं है यानी ईश्वरवाद से मुक्ति। आस्तिकता यदि ईश्वर पर नहीं होगी तो स्वयं पर होगी, आप स्वयं के आस्तिक होंगे यानी स्वास्तिक होंगे। स्वयं का अर्थ आत्म होता है और आस्तिक का मतलब निर्भर होता है यानी 'स्वास्तिक' और 'आत्मनिर्भर' दोनों शब्द समानार्थी हैं।

स्वाधीनता के लिए तीन तरह की सत्ताओं में भागीदारी होना जरूरी है। डॉ. आंबेडकर द्वारा रेखांकित की गई इन तीन सत्ताओं पर हम भारत के लोगों का ध्यान आकर्षित किया जा सकता है। ये तीन सत्ताएं हैं—पहली 'ज्ञान सत्ता', दूसरी 'राज सत्ता' और तीसरी 'धर्म सत्ता'। देखना यह है कि इन तीनों सत्ताओं पर एक विशेष-वर्ग का कब्जा है, या फिर हम भारत के लोग अपनी इच्छा से इन सत्ताओं में भागीदारी कर सकते हैं। केवल वैदिक नहीं बल्कि भारत में इस्लाम और ईसाई धार्मिक सत्ता में भी इसकी पड़ताल करनी जरूरी है। इस्लाम और ईसाइयत में भी हम भारत के लोग शामिल हैं या नहीं। यह देखा जाना जरूरी है कि हम भारत के लोगों में ही, कोई ऐसा विशिष्ट वर्ग तो, नहीं बन गया है; जो धर्म-सत्ता में नीति का निर्धारण और उसका प्रबंधन का काम करता है, शेष-हम भारत के लोगों को, नीति निर्धारक पदों तक, पहुंचने नहीं दिया जाता है? यह वास्तविकता है कि भारत में ईश्वरवादी धर्म सत्ताओं पर कब्जा विशिष्ट-वर्ग ही कर रहे हैं, जो उच्च जातीय बोध की वजह से प्रतिनिधित्व के लोकतांत्रिक मूल्य को हानि पहुंचा रहे हैं।

महिलाएं को भी धर्म सत्ता में भागीदारी से पाबंद कर दिया जाता है। इसलिए भी सामाजिक व्यवस्था में महिलाओं के लिए समान अवसर नहीं हैं। भारतीय मूल के गैर ईश्वरवादी परंपरा में भी बौद्ध धम्म को छोड़कर महिला को धर्मसत्ता में भागीदारी पूर्ण रूप में नहीं, केवल आंशिक है। यह निर्विवाद है कि धार्मिक व्यवस्था के ऊपर संवैधानिक व्यवस्था है। यदि हमें स्वतंत्रता और समानता के बंधुत्वभाव का सामाजिक परिवेश चाहिए तो संविधान की प्रस्तावना हमारे दैनिक जीवन के लिए रोज का लक्ष्य होनी चाहिए।

आजादी के बाद भारतीय संविधान ने धार्मिक व्यवस्था की अमानवीय चक्रबंदी को कुछ हद तक तोड़ा है। लेकिन ये उन साहसिक भारत के लोगों के कारण हो सका है, जिन्होंने संवैधानिक सत्ता का सहारा लेकर धार्मिक अन्याय के विरुद्ध आवाज उठाई और संघर्ष किया। भारतीय संविधान ने सभी को स्कूल में प्रवेश देकर विद्या दी और ज्ञान सत्ता में पराधीनता को कम किया, वही चुनाव लड़ने का अधिकार देकर राज सत्ता में भी पराधीनता को कम किया।

यह सवाल अभी छोड़ा नहीं जा सकता है कि क्या धर्म सत्ता में वैसी ही भागीदारी मिली जैसी ज्ञान-सत्ता और राज-सत्ता में मिली? इसका जवाब है—नहीं! सामाजिक संरचना पर धर्म सत्ता का नियंत्रण अधिक होता है, धर्म सत्ता में भागीदारी का सवाल ज्यादा प्रबल है। सवाल किसी भी मंच से उत्पन्न हुए हो, हमने उनका असर देखा है, वैदिक धर्म सत्ता में महिला कथावाचक नजर आई हैं, बेशक अभी पुरुष पक्ष के मुद्दों को पुख्ता करती ही नजर आती है, लेकिन अपनी स्थिति को जब वे पुरुष आश्रितता से मुक्त कर लेंगी तो धर्म सत्ता को अपने मुद्दे दे पाएंगी। ईसाइयों में नन एक सीमा से आगे नहीं बढ़ पाई क्योंकि वे अपने मुद्दे धर्म सत्ता को नहीं दे पाई, ऐसा क्यों हुआ, क्योंकि धर्म सत्ता के फैसलों में उसकी निर्णायक भूमिका नहीं रही। इस्लाम की धार्मिक सत्ता में शेख व सैयद के अलावा शेष-लोगों की निर्णायक भूमिका नहीं बन पाई है। ऐसे में महिलाओं को निर्णायक भूमिका देने में बहुत देरी लगेगी।

धर्म सत्ता से वंचित वर्ग को सवाल करने चाहिए, इससे प्रतिनिधित्व की जरूरत रेखांकित होगी।

ईश्वर की अवधारणा और किताबी तहरीरें सुनाई जाती है, उनके मूल्यांकन को अपराध के तौर पर प्रस्तुत किया जाता है, क्योंकि मूल्यांकन विद्या (ज्ञान) उत्पन्न करता है, मूल्यांकन न करने से

अविद्या (अज्ञान) बढ़ती है, जिससे मिथ्या दृष्टि मनुष्य की बौद्धिक क्षमता को खत्म कर देती है। वास्तविकता को देखने की सम्यक दृष्टि का अभाव, न केवल, जीवन में दुख को उत्पन्न करता है, बल्कि पराधीनता को बढ़ाता है, मजबूत करता है।

एक मिथ्या नजरिये के समक्ष दूसरा मिथ्या नजरिया परोस देने से समस्या का समाधान नहीं होता बल्कि समस्या और ज्यादा उलझ जाती है। उत्तर-आधुनिक दौर में विमर्श ने अस्मिता के सवाल को मजबूती से खड़ा तो किया लेकिन समाधान कुछ भी नहीं हो पाया। ब्राह्मणवादी साहित्य ने 'शूद्र' के रूप में 'इंसान' को जैसी अवास्तविक पहचान दी है, अलग-अलग विमर्शों में वैसी ही, 'दलित', 'महिला', 'आदिवासी' व 'ओबीसी' की पहचान (अस्मिता) दी जा रही हैं क्या ये वास्तविक अस्मिताएं (पहचान) हैं? मेरे विचार से परिपक्वता की कोई अंतिम सीढ़ी नहीं है। इन सभी विमर्शों ने जिस परिपक्वता से अपने शोषण को रेखांकित करने के लिए 'दलित', 'महिला', 'आदिवासी' व 'ओबीसी' की अवधारणा का उपयोग किया है, वक्त के साथ अब उससे ऊंचे परिपक्वता के पायदान पर खड़ा होकर बात करने की जरूरत है। अलग-अलग विमर्श इंसानी- हकूक को मांग रहे हैं, लेकिन इंसान को 'इंसान' की पहचान से अलग करके इंसानी हकूक मांग रहे हैं। वास्तविक चीज के लिए वास्तविक मांग की जा सकती है। विमर्श अपनी प्रौढ़ता में, अवास्तविक चीज के लिए वास्तविक मांग कैसे करेगा? यदि ऐसा हैं, तो यह एक ऐसा खेल है, जिसमें परिणाम हासिल करना लक्ष्य नहीं है, बस मनोरंजन किया जा रहा है। मिथ्या दृष्टि में सम्यक व्यायाम (समुचित प्रयास) नहीं हो सकता। सम्यक व्यायाम के लिए सम्यक दृष्टि चाहिए। सम्यक दृष्टि से विद्या उत्पन्न होती है। जिसकी प्राथमिक पहचान इंसान है और प्राथमिक पहचान से आगे अलग-अलग परि-स्थितियों में, केवल व्यवहार के लिए, उसे 'महिला', 'बेटी', 'बहन' और 'माँ' के रूप में पहचाना जा सकता है; अध्यापिका या अधिकारी जैसे पेशों की पहचान में पहचाना जा सकता है।

'दलित', 'महिला', 'आदिवासी' व 'ओबीसी' मानव है, उसकी अस्मिता मानव ही है, कुछ और नहीं, यदि उसे अविद्या के कारण मिथ्या दृष्टि से पहचाना जाता है, तभी इन सबको मानवीय अधिकारों से वंचित किया जा सकता है। इसी विधि से एक इंसान को इंसानी हकूक से वंचित किया गया है। अब अगर उनके लिए वास्तविक अधिकारों को मांगा जा रहा है तो वास्तविक पहचान में ही उसे पहचानने की जरूरत होगी। जो खेल चल रहा है उसमें मनोरंजन तो खूब हो रहा है, परिणाम हासिल नहीं हो रहे हैं। खैर! हम अपनी बात को यहां पुनः दोहरा देते हैं कि वास्तविक चीजों के लिए वास्तविक पहचान को सामने रखने की जरूरत है। विमर्श में 'वास्तविक पहचान' से बेशक ध्यान चूक जाए लेकिन विमर्श की प्रौढ़ता से उत्पन्न दर्शन में चूक के लिए कोई स्थान नहीं होता है। दर्शन बहुत पुख्ता तौर पर अपनी बातों को रखता है, हममें से जो भी 'दलित', 'महिला', 'आदिवासी' व 'ओबीसी' विमर्श चला रहे हैं, उन्हें दार्शनिक समझ में चीजों को पहचानना और रेखांकित करना पड़ेगा, तभी हम ग़मगीन परिस्थिति को घटना बनने से रोक पाएंगे।

हमारे जीवन में धर्म-दर्शन की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। धर्म हमारी निजी जिंदगी और सामाजिक जिंदगी का नियंता है। हमारी जिंदगी के क्रिया-कलापों को अधिकार और कर्त्तव्यों के रूप में विभिन्न लोगों के बीच अलग-अलग मात्रा में बांट देता है। दर्शन यदि अविद्या पर आधारित है तो अधिकार और कर्त्तव्यों के वितरण में असमानता और अन्याय आ ही जाएगा। असमानता और अन्याय पर आधारित समाज में मौजूद लोगों का जीवन दुखमय होगा, ग़मगीन होगा।

जहां दर्शन मिथ्या दृष्टि के स्थान पर सम्यक दृष्टि को महत्त्व देता है, अविद्या से मुक्त समाज होगा, जिसमें अधिकार और कर्त्तव्यों का बंटवारा न्यायपूर्ण होगा। भारत के संविधान की उद्देशिका का उद्देश्य ही है—बेग़म समाज को अस्तित्व में लाना, बेग़मपुरा व बेग़म देश को बसाना।

ईश्वरवादी दर्शनों ने लोगों को जीवन का लक्ष्य ईश्वर और मोक्ष की प्राप्ति रखा है। वहीं मूलभारतीय दर्शनों में जैसे लोकायत, सांख्य, बौद्ध, सिद्ध और संतों ने दुखमुक्त जीवन को पाना जीवन लक्ष्य रखा है। दुख से मुक्ति का लक्ष्य सभी मूलभारतीय दर्शनों के केंद्र में सदा रहा है, लेकिन बेग़मपुरा या बेग़मदेश को पाने के लिए अविद्या के विरुद्ध विद्या का संघर्ष प्रचीनकाल, मध्यकाल, आधुनिक काल से होता हुआ उत्तर आधुनिक काल में हम तक पहुंचा है। अब हमें देखना है कि हम इस लड़ाई को कैसे लड़ते हैं।

पेरियार का नारी दृष्टिकोण

डॉ. दीपा श्रावस्ती
प्रख्यात नारीवादी चिंतक
और
आंदोलनकारी

भारतीय समाज में जाति और पितृसत्ता की गहरी जड़ें हैं। इस व्यवस्था ने स्त्रियों पर तरह-तरह के अन्याय और शोषण किए हैं। कभी उन्हें सम्मान मिला तो कभी अपमान, और इस दोहरी स्थिति में वे हमेशा उलझी हुई नजर आती हैं। समाज ने उनके साथ कैसा व्यवहार किया है, इसका सही आक्कलन वे अक्सर नहीं कर पातीं। कई बार तो जिस परंपरा ने उनके साथ अन्याय किया, उसी की प्रशंसा वे करती दिखाई देती हैं। असल समस्या यह है कि उसे समझ नहीं आता कि किस बात को स्वीकार करना चाहिए और किसे छोड़ देना चाहिए। समाज की प्रगति स्त्रियों की सामाजिक चेतना पर निर्भर है, इसलिए समय रहते उनका आत्मबोध और समाजबोध जागृत होना जरूरी है। उसके (स्त्री के) साथ अन्याय और शोषण क्यों किया गया, इसका कारण आज तक उसे ठीक से समझ में नहीं आया है। स्त्रियों के दमन का लंबा इतिहास होने के बावजूद, कुछ महान व्यक्तियों ने उसे इस अंधकार से बाहर निकालने का प्रयास किया है। उसे इंसान के रूप में मान्यता मिले, इसके लिए लगातार संघर्ष हुए हैं। स्त्रियों के अधिकारों, सम्मान और उद्धार के लिए निःस्वार्थ रूप से लड़ने वालों में एक महान पुरुष थे—थंथई पेरियार।

"पेरियार" शब्द का अर्थ है महापुरुष। ई.वी. रामस्वामी, इरोड वेंकट रामस्वामी, को यह उपाधि 'प्रोग्रेसिव वीमेन एसो-सिएशन' ने प्रदान की थी। उन्हें 'दक्षिण का सुकरात' भी कहा जाता है। पेरियार का जन्म 17 सितंबर 1879 को मद्रास प्रांत के ईरोड गाँव में एक शूद्र परिवार में हुआ। घर का माहौल अत्यंत धार्मिक था। बचपन से ही पेरियार का मन संवेदनशील और जिज्ञासु था। घर में धार्मिक कर्मकांड कराने आने वाले पुरोहितों से वे तरह-तरह के प्रश्न पूछते। जातिगत भेदभाव को लेकर उनके मन में हमेशा सवाल उठते रहते थे और इन प्रश्नों से वे घरवालों को परेशान कर देते थे। धार्मिक परंपराएँ, रूढ़ियाँ, अंधविश्वास और कर्मकांड उन्हें कभी स्वीकार नहीं थे। इन्हीं कारणों से उन्होंने कुछ समय के लिए घर तक छोड़ दिया और बेचैन मन सत्य की तलाश में भटकने लगा। धीरे-धीरे उनके मन में अन्याय के खिलाफ संघर्ष का बीज

अंकुरित होने लगा और यह संकल्प मजबूत होता गया। उनके सामाजिक जीवन का संगठित संघर्ष वायकोम सत्याग्रह से शुरू हुआ। उस समय उन्हें गिरफ्तार किया गया और जेल भी जाना पड़ा।

पेरियारजी ने 1919 (साल) में काँग्रेस की सदस्यता स्वीकार की और आगे 1924 में तमिलनाडु प्रांत के अध्यक्ष बने। वे महात्मा गांधी के नेतृत्व में काँग्रेस के कई आंदोलनों और सत्याग्रहों में सक्रिय रूप से भाग लेते रहे। कई काँग्रेस अधिवेशनों में वे जातिगत पुनर्रचना (जातिवाद-विरोधी) की मांग करते रहे। जब उनकी यह मांग स्वीकार नहीं की गई, तब उन्होंने 1925 में काँग्रेस के कुछ अधिवेशनों से बहिष्कार कर दिया और अंततः काँग्रेस छोड़ने का निर्णय लिया। इसके बाद उन्होंने आत्म-सम्मान (स्वाभिमान)self-respect आंदोलन की स्थापना की। आत्म-सम्मान आंदोलन का उद्देश्य जाति-व्यवस्था का उन्मूलन करना और पीड़ित लोगों में आत्म-सम्मान की भावना पैदा करना था। पेरियारजी आत्म-सम्मान आंदोलन के बारे में कहते थे कि इस आंदोलन का उद्देश्य केवल देव-देवताओं का विरोध करना नहीं है, बल्कि भारतीय समाज में खोया हुआ आत्मविश्वास लोगों को वापस दिलाना है। यदि इस कार्य में जाति-व्यवस्था या पारंपरिक प्रथाएँ बाधा बनती हैं तो उनका अंत भी करना चाहिए-यह वे स्पष्ट रूप से कहते थे। देव-देवताओं या अन्य आडम्बरों के कारण बनती प्रथाएँ, रूढ़ियाँ और अंधविश्वासों के खिलाफ यह आंदोलन आवाज उठाएगा और जाति के कारण होने वाले भेदभाव को मिटाने का काम करेगा। जनमानस में बंधुत्व की भावना पैदा करने के लिए यह आंदोलन हर प्रकार के उपाय करेगा। किसी भी समस्या के मूल कारण तक पहुँचकर उन कारणों पर काम करना-यही पेरियारजी के जीवन का दर्शन था।

हिंदू धर्म की रूढ़ियों और परंपराओं की तीखी आलोचना करते हुए पेरियार यह समझाते थे कि देव-देवताओं का ढोंग वास्तव में विशेष वर्गों ने अपने स्वार्थ के लिए गढ़ा है। इस बात को लोगों तक पहुँचाने के लिए उन्होंने कई मुखपत्र चलाए और जागृति का प्रयास किया। इनमें कुंडीयारासु', 'विडुथलै' जैसे पत्र विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। उन्होंने 'सच्ची रामायण' नामक ग्रंथ भी प्रकाशित किया। पेरियार सवाल उठाते थे-'अगर रामराज्य में भी ऊँच-नीच और भेदभाव मौजूद हो, तो ऐसे रामराज्य का क्या उपयोग?' इस तरह के कड़े प्रश्न वे अपने लेखन और भाषणों के माध्यम से समाज के सामने रखते थे।

समाज के प्रति उनके समर्पण को देखकर जनता ने स्वयम ही उन्हें अपना नेता स्वीकार किया। सन् 1920 के दशक में उन्होंने ईरोड नगरपालिका में लगभग पच्चीस अलग-अलग पदों पर काम किया। कुछ वर्षों तक उन्होंने ऑनरेरी मजिस्ट्रेट के रूप में सेवा दी। बाद में वे मद्रास महानगरपालिका परिषद के सदस्य बने और फिरईरोड नगर पालिका के अध्यक्ष भी बने। राजनीतिक सत्ता का उपयोग उन्होंने हमेशा जनहित के लिए किया। सत्ता में रहते हुए उन्होंने हानिकारक रूढ़ियों, परंपराओं और प्रथाओं पर रोक लगाने के लिए कई कानून बनाए।

पेरियारजी का आंदोलन बहुत व्यापक बना। उनके संपूर्ण संघर्ष में स्त्री प्रश्न केंद्र में था। उनका मानना था कि स्त्री को जाति व्यवस्था का द्वार बनाया गया है। इसलिए जाति उन्मूलन और स्त्री-उद्धार एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। जाति उन्मूलन की प्रक्रिया के साथ-साथ स्त्री को गुलामी, रूढ़ियों और परंपराओं की बेड़ियों से मुक्त करना आवश्यक है-इस तथ्य को वे भलीभाँति जानते थे और उसी अनुसार उन्होंने कार्यनीति अपनाई। 'Charity begins at home' (दान/सुधार घर से शुरू होता है) यह मानते हुए पेरियार ने अपनी पत्नी नागम्मा और बहन कन्नम्मै को अपनी आंदोलन में सक्रिय रूप से शामिल किया। घर के पारंपरिक वातावरण के बावजूद पेरियार ने अपनी पत्नी और बहन का प्रबोधन किया, उनके विचार बदले और उन्हें अपने कार्य का महत्व समझाया। उस समय स्त्रियों के सामाजिक जीवन को मान्यता नहीं थी, इसलिए इन दोनों का पेरियार के साथ

"बचपन से ही पेरियार का मन संवेदनशील और जिज्ञासु था। घर में धर्मिक कर्मकांड कराने आने वाले पुरोहितों से वे तरह-तरह के प्रश्न पूछते। जातिगत भेदभाव को लेकर उनके मन में हमेशा सवाल उठते रहते थे और इन प्रश्नों से वे घरवालों को परेशान कर देते थे। धर्मिक परंपराएँ, रूढ़ियाँ, अंधविश्वास और कर्मकांड उन्हें कभी स्वीकार नहीं थे। इन्हीं कारणों से उन्होंने कुछ समय के लिए घर तक छोड़ दिया और बेचैन मन सत्य की तलाश में भटकने लगा। धीरे-धीरे उनके मन में अन्याय के खिलाफ संघर्ष का बीज अंकुरित होने लगा और यह संकल्प मजबूत होता गया।"

"समता के बारे में पेरियार के विचार यह थे कि स्त्री और पुरुष-दोनों को एक-दूसरे के अधिकारों और स्वतंत्रताओं का उल्लंघन नहीं करना चाहिए। उनका जोर था कि दोनों के अधिकारों और कर्तव्यों का समान रूप से विचार होना आवश्यक है।"

हर संघर्ष में उतरना कोई सामान्य बात नहीं थी। आगे चलकर, पहली पत्नी के निधन के बाद, पेरियार की दूसरी पत्नी मनियाम्मै इस आंदोलन की नेत्री बनीं और उन्होंने पेरियार की अनुपस्थिति में भी आंदोलन का कार्य आगे बढ़ाया। पेरियार के नारीवादी दृष्टिकोण में स्त्री शोषण पर प्रहार और स्त्री के अधिकारों तथा हकों का समर्थन प्रमुख सूत्र के रूप में दिखाई देता है। पुरुष सत्तात्मक समाज व्यवस्था में स्त्रियों को दिए गए दोयम स्थान का विरोध करना, नए समाज के निर्माण के लिए हर स्तर पर स्त्री शोषण के कारणों को खोजना, स्त्री की अस्मिता को पुनः प्रतिष्ठित करना, नए विकल्प प्रस्तुत करना और सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक सत्ता में पुरुषों के बराबर स्त्रियों को स्थान दिलाना–यही उनके संघर्ष का मूल तत्व था। पेरियारजी की यह क्रांतिकारी भूमिका उनके प्रसिद्ध लेख 'पेन एन आदमी अनल' (Why Were Women Enslaved) में पढ़ने को मिलती है। वे केवल व्यवस्था को बनाए रखते हुए छोटी-मोटी सुधार करने के पक्षधर नहीं थे, बल्कि वे स्त्री शोषण के मूलभूत कारणों को समाज के सामने लाने का प्रयास करते थे। उनका स्पष्ट मत था कि कारण दूर किए बिना परिणाम नहीं रोके जा सकते। पेरियारजी के अनुसार, स्त्री को केवल संतान उत्पन्न करने का साधन मानना गलत है। जिस तरह मशीन की भावनाओं पर विचार नहीं किया जाता, उसी तरह स्त्री को यंत्र मानने के कारण उसकी भावनाओं को भी महत्व नहीं दिया गया। उन्होंने स्त्री-शिक्षा, विवाह, परंपराएँ, रीति-रिवाज, परिवार नियोजन जैसे कई स्तरों पर काम किया। स्त्री शोषण के कारणों को उजागर कर उन पर काम करना–यही पेरियार की कार्यपद्धति रही।

शील (Chastity) के बारे में पेरियार के विचार अत्यंत मौलिक और मूलगामी हैं। तमिल शब्द 'कर्पू' का अर्थ है शील, जिसे अंग्रेजी में virginity कहा गया है। परंपरागत रूप से इसे 'योनि की शुद्धता' के रूप में समझा गया। पेरियार के अनुसार, 'शील' शब्द का अर्थ स्त्री का सद्गुण या आवश्यक गुण मान लिया गया है। इसका उपयोग स्त्री के उस जीवन-चरण को बताने के लिए किया जाता है, जब उसका पुरुष के साथ शारीरिक संबंध न हुआ हो। लेकिन पुरुष के मामले में ऐसी किसी अवस्था का वर्णन करने वाला शब्द तमिल में ही नहीं है–यह पेरियार ने स्पष्ट रूप से कहा। उनका मानना था कि जब किसी संबंध में स्त्री और पुरुष दोनों समान भागीदार होते हैं, तो केवल स्त्री को ही दोषी या कलंकित मानना अन्यायपूर्ण है। जिस प्रकार स्त्री को शील का बंधन दिया गया है, उसी प्रकार पुरुष पर भी वही बंधन होना चाहिए।

समता (Equality) के बारे में पेरियार के विचार यह थे कि स्त्री और पुरुष–दोनों को एक-दूसरे के अधिकारों और स्वतंत्रताओं का उल्लंघन नहीं करना चाहिए। उनका जोर था कि दोनों के अधिकारों और कर्तव्यों का समान रूप से विचार होना आवश्यक है। हम देखते हैं कि जाति और पितृसत्तात्मक समाज व्यवस्था में भले ही स्त्री और पुरुष के अधिकार समान दिखाए जाते हैं, लेकिन व्यवहार में स्त्री को हमेशा ही दोयम स्थान पर रखा गया है। पुरुष के सुख को केंद्र में रखकर उसे विशेषाधिकार दिए गए, जबकि स्त्री से अपेक्षा की गई कि वह केवल त्याग करे, पुरुष के आनंद के लिए परिश्रम करे और समर्पित रहे। पेरियार का कहना था कि समता स्थापित करने के लिए यह जरूरी है कि स्त्री और पुरुष एक-दूसरे के अधिकारों का अतिक्रमण न करें। लेकिन इससे पहले–स्त्री और पुरुष, दोनों के बीच अधिकारों के साथ-साथ कर्तव्यों की भी समान साझेदारी होनी चाहिए।

देवदासी प्रथाये ऐसी प्रथा है जिसमें यह माना जाता था कि देवताओं के कोप से स्वयं और अपने परिवार को बचाने के लिए अपनी बेटी को देवता को अर्पित कर दिया जाए। इस प्रथा में लड़की का विवाह देवता से कर दिया जाता था। इसके बाद उसे आजीवन अविवाहित रहना पड़ता, मंदिर की सारी व्यवस्था संभालनी पड़ती, नृत्य-संगीत करना पड़ता, उत्सवों में लोगों का मनोरंजन करना पड़ता और सबसे महत्वपूर्ण–मंदिर के पुजारियों की हर प्रकार से सेवा करनी होती। इस तरह का जीवन स्त्रियों के लिए अपमानजनक और अमानवीय था। स्त्री-सम्मान को ठेस पहुँचाने वाली इस प्रथा के विरोध में पेरियारजी ने कानून बनवाया और

।।ई पत्रिका पढ़ना, आसान भी है और सुविधाजनक भी।।

इस प्रथा को समाप्त करने के लिए महत्त्वपूर्ण कदम उठाया।

समाज व्यवस्था ने स्त्री को भोग की वस्तु माना था। ऐसे में यह सोचना ही असंभव था कि भोग-वस्तु जैसी मानी जाने वाली स्त्री की अपनी कोई संपत्ति या विरासत हो सकती है, लेकिन पेरियारजी अपने लेखन और भाषणों के माध्यम से स्त्रियों के विरासत के अधिकार (property rights)पर जोर देते थे। उनका कहना था कि स्त्री को भी उत्तराधिकार में हक मिलना चाहिए और उसकी अपनी व्यक्तिगत संपत्ति हो सकती है। इसी दृष्टि से पेरियार ने स्त्रियों के उत्तराधिकार के अधिकार को सुनिश्चित करने के लिए कानून भी बनवाया।

पेरियार के अनुसार, विवाह (Marriage)एक सामाजिक संस्था है। यह स्त्री और पुरुष दोनों के हित और कल्याण के लिए बनाया गया है, लेकिन विवाह के बंधन में अक्सर केवल स्त्री को ही कर्तव्य और बंधन झेलने पड़ते हैं। विवाह को पवित्र माना जाता है, इसलिए स्त्री को हर परिस्थिति में पालन करने की सख्त शर्त दी जाती है। इस पवित्र बंधन के माध्यम से स्त्री पर 'पवित्रता' का बोझ डाल दिया जाता है। पेरियारजी का मानना था कि किसी भी प्रकार के बंधन का पालन करना स्त्री और पुरुष दोनों का कर्तव्य है। परिवार के भीतर परिवार का प्रबंधन और देखभाल अक्सर केवल स्त्री की जिम्मेदारी बन जाती है। इस जिम्मेदारी के कारण स्त्री का सामाजिक जीवन बाधित होता है और उसकी प्रगति रुक जाती है। पेरियार विवाह संस्था और इसके माध्यम से होने वाले स्त्री शोषण को गंभीर रूप से देखते थे। स्त्री पर लगाए गए बंधन, रूढ़ियों और परंपराओं के कारण होने वाला शोषण उन्हें सामाजिक आत्महत्या (Social suicide) जैसा लगता था। उनका मानना था कि इस तरह का विवाह स्त्री की प्रगति में सबसे बड़ी बाधा है। सांस्कृतिक तौर पर यदि किसी कारण से स्त्री और पुरुष एक-दूसरे के अनुरूप नहीं हैं, तो उन्हें अलग होने का अधिकार होना चाहिए। पेरियार यह भी कहते थे कि तलाकशुदा स्त्री को अपनी इच्छा के अनुसार पुनर्विवाह करने का अधिकार होना चाहिए। उन्होंने यह अधिकार अपने नाबालिक भतीजी की पुनर्विवाह की व्यवस्था करके भी साबित किया। इन कृत्यों से यह स्पष्ट होता है कि पेरियार केवल भाषणों के सुधारक नहीं थे, बल्कि उन्होंने व्यावहारिक सुधार भी किए। उनके विचार परंपरागत आचरण के विपरीत दिशा में जाते थे और समाज को वास्तविक समानता और स्वतंत्रता की ओर ले जाने का प्रयास करते थे।

आत्म-सम्मान विवाह (Self-Respect Marriage) पद्धति में पेरियार ने पारंपरिक कर्मकांडों को पूरी तरह से नकार दिया। इस विवाह में, केवल पुरोहित की उपस्थिति में विवाह नहीं किया जाता था, बल्कि लड़की और लड़के दोनों सजग और सहमति से विवाह करते थे। विवाह दोनो की परस्पर सहमति से संपन्न होता था। इस विवाह की विशेषता यह थी कि अधिकांश पारंपरिक कर्मकांडों को हटाया गया, लेकिन लड़की पर मंगलसूत्र पहनने का कोई बंधन नहीं था। इस पद्धति के माध्यम से स्त्री का साथी के रूप में समान अधिकार और भागीदारी महत्वपूर्ण मानी जाती थी। विवाह के बाद स्त्री को कई संतानें देनी पड़ती थीं, जिसका प्रभाव उसके स्वास्थ्य और समग्र विकास पर पड़ता था-यह पेरियारजी अच्छी तरह समझते थे। इस खतरे को कम करने के लिए उन्होंने परिवार नियोजन को बढ़ावा दिया और इसके लिए जनजागृति भी की।

ब्राह्मणीय पुरुष सत्ता जाति व्यवस्था का अभिन्न हिस्सा है। पुरुषसत्तात्मक समाज में पुरुष केंद्रित होते हैं और उसमें महिलाओं के प्रति घृणा (Misogyny) और भेदभाव स्वाभाविक रूप से शामिल होता है। पुरुष के सुख और हित को केंद्र में रखकर समाज में स्त्री की स्थिति तय की जाती है। पुरुष के आनंद और सुविधा के लिए स्त्री से समर्पण, परिश्रम और सेवाभाव की अपेक्षा की जाती है। यह व्यवस्था बनाने और बनाए रखने का अधिकार पुरुषों के पास ही होता है। पुरुष स्वाभाविक रूप से आत्मकेंद्रित होता है, लेकिन इस स्थिति का समाज व्यवस्था पर भी गहरा प्रभाव पड़ता है। पेरियार का मानना था

आत्म-सम्मान विवाह पद्धति में पेरियार ने पारंपरिक कर्मकांडों को पूरी तरह से नकार दिया। इस विवाह में, केवल पुरोहित की उपस्थिति में विवाह नहीं किया जाता था, बल्कि लड़की और लड़के दोनों सजग और सहमति से विवाह करते थे।

कि स्त्री और पुरुष दोनों को स्वतंत्र और आनंदी होना चाहिए, तभी समाज में समानता स्थापित हो सकती है। पेरियारजी के अनुसार इस समाज व्यवस्था में पुरुष के मन में स्त्री का शोषण और दमन करने की प्रवृत्ति विकसित की जाती है। इसे वे 'पुरुषत्व' (Muscu-larity) कहते हैं। पेरियार के शब्दों में, 'Muscularity should be destroyed for women's liberation' –यदि पुरुषत्व की यह हिंसक प्रवृत्ति नष्ट की जाए, तभी स्त्री वास्तव में स्वतंत्र हो सकती है।

पुरुषत्व का अर्थ है दूसरों पर अधिकार जताना, उनका शोषण करना, संपत्ति और शक्ति पर कब्जा जमाना, और अपनी प्रभुता का प्रदर्शन करना। यदि इस प्रवृत्ति को कम किया जाए, तो स्त्री का शोषण समाप्त हो जाता है। पेरियार बताते हैं कि स्त्री का दमन पुरुष की नसों और विचारधारा में गहराई से व्याप्त है और इसमें कौन-कौन सी अंधविश्वास और रूढ़ियाँ छिपी हैं, इसका वे विश्लेषण करते हैं।वे पुरुषत्व को केवल शारीरिक ताकत के रूप में नहीं देखते, बल्कि इसके सभी ऐतिहासिक और सांस्कृतिक पहलुओं का मौलिक विश्लेषण करते हैं और यह ज्ञान आम जनता तक पहुँचाते हैं। पेरियारजी यह स्पष्ट करते हैं कि जाति-पितृसत्ता केवल स्त्रियों का शोषण नहीं करती, बल्कि पुरुषों का भी शोषण करती है। पुरुषों को अपनी जिम्मेदारी का अहसास कराते हुए, वे स्त्रियों को भी उनके अधिकारों और जिम्मेदारियों के प्रति जागरूक करते हैं। पेरियारजी कहते हैं कि पुरुषों का स्त्री उद्धार करना केवल दिखावा है; यह वास्तविकता में स्त्री की धोखाधड़ी और शोषण है। जैसे गुरु से मोक्ष प्राप्त होता है, वैसे ही अपने स्वार्थ के लिए स्त्री का उपयोग करने वाला पुरुष उसे वास्तव में स्वतंत्र नहीं कर सकता– यह नैतिक दृष्टि से उनका स्पष्ट मत है। इसलिए पेरियार स्त्रियों को यह सिखाते थे कि स्त्री को स्वयं अपने उद्धार की जिम्मेदारी लेनी चाहिए, किसी और पर निर्भर नहीं रहना चाहिए। उसका संघर्ष स्वयं करना आवश्यक है। अपने अधिकारों और स्वतंत्रता की लड़ाई स्त्री को स्वयं ही लड़नी चाहिए। किसी दूसरे से इसकी उम्मीद नहीं की जा सकती।

पेरियारजी ने यह दृष्टिकोण अपनाया कि स्त्री को एक मानव के रूप में देखा जाए, न कि पुरुष के अधीन या केवल उसके सुख और सुविधा के लिए। यही उनके नारीवादी दृष्टिकोण का मूल था। उनके विचार और कार्य इस बात का प्रमाण हैं कि उन्होंने न केवल नारीवाद की नई परिभाषा स्थापित की, बल्कि उसे व्यवहार में लागू भी किया। पेरियारजी के इस स्त्रीवादी दृष्टि- कोण को 'Periyar's feminism' (पेरियार का स्त्रीवाद) कहा गया है। इसमें विभिन्न नारीवादी धाराओं का समन्वय करके एक नये और प्रगतिशील नारीवाद को जन्म दिया गया। जाति-पितृसत्ता में स्त्री के शोषण के मूल कारणों पर हमला करके और स्त्री को एक स्वतंत्र मानव के रूप में समाज में मान्यता दिलाकर, पेरियारजी ने इतिहास में अद्वितीय क्रांतिकारी कार्य किया। उनके विचारों और कार्यों के लिए सम्पूर्ण स्त्री वर्ग को उनके प्रति कृतज्ञता व्यक्त करनी चाहिए। उनके विचारों को जीवित रखते हुए, और उन्हें समाज में लागू करने के लिए एक जागरूक और विचारशील समाज का निर्माण करना हमारी जिम्मेदारी है।

बेग़मपुरा : सभ्यता का आह्वान

इंडियन नेशनल लिटरेचर कॉन्फ्रेंस का आयोजन

"महिला कथा विशेषांक"

जनवरी-फॅरवरी 2026

विशेषांक का संपादन : डॉ. पूरन सिंह

इस ईमेल पर प्रेषित करें | drpuransingh64@gmail..com

महिला लेखिकाओं द्वारा लिखी ऐसी कहानियाँ जिसमें जनवादी, महिला विषयक, जनतांत्रिक व संवैधानिक मूल्यों पर आधारित कहानियां हैं, "महिला कथा विशेषांक" के लिए आमंत्रित की जाती हैं। कहानी हरहाल में दिसंबर के दूसरे सप्ताह तक हमें मिल जानी चाहिए। रचना उपरोक्त ईमेल पर प्रेषित करें।

निवेदक : **शीलबोधि, संपादक, बेग़मपुरा**

सीधा संवाद

हिंदी नाटक और रंगमंच
दलित-बहुजन की मुक्ति का सवाल

डॉ. विभीषण कुमार
युजीसी नेट-जे.आर.एफ.
एवं पीएच. डी.(हिंदी)
भूपेन्द्र ना. मंडल विश्वविद्यालय
लालूनगर,
मधेपुरा-852113 (बिहार)
ईमेल- vibhishan30@gmail-com

नाटक और रंगमंच का संबंध मात्र साहित्य और मंच तक सीमित नहीं है, बल्कि यह सामाजिक चेतना और परिवर्तन का भी सशक्त माध्यम है। नाटक जहाँ कथ्य, संवाद और संवेदना के रूप में समाज की समस्याओं को अभिव्यक्त करता है, वहीं रंगमंच उन समस्याओं को जीवंत रूप में समाज के सामने प्रस्तुत करता है। नाटकों को केवल पढ़े जाने योग्य रचना न बनाकर, जनता से सीधे संवाद करने वाला उपकरण बनाता है।

बहुजन समाज की मुक्ति के सवाल में यह परस्परता और भी महत्त्वपूर्ण हो जाती है। विभिन्न भारतीय भाषा-भाषी के साथ हिंदी नाटककारों ने जातिगत उत्पीड़न, सामाजिक अन्याय, शोषण और प्रतिरोध जैसे मुद्दों को अपने नाटकों में सशक्त रूप से उठाया है। बहुजन समाज दारूण सामाजिक स्थितियों जब रंगमंच पर उतारा जाता है, तब वे केवल साहित्यिक विमर्श न रहकर जन-आंदोलन की आवाज बन जाते हैं। रत्नाकुमार सांभरिया लिखते हैं–'मंचेय नाटक दृश्य अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम है। नाटक की थीम (कथावस्तु) बहुजन-अस्मिता और बहुजन-चिंतन से जुड़े मुद्दों जातिभेद, छुआछूत, शोषण, अत्याचार, दलन, उत्पीड़न, आरक्षण, वास और पुनर्वास पर केंद्रित होगी, तभी वह नाटक 'दलित नाटक' कहलाने का अधिकारी होगा। सामाजिक मूल्यों के अंतर्द्वंद्व, बहुजन-वंचित समाज और आमजन में जागृति पैदा करने का मूल ध्येय हो तथा इन वर्गों के पात्रों में जीवट, जज्बा और जिजीविषा पैदा करने का उन्मेषी भाव होना चाहिये। श्लीलता उसका आभूषण है।"[1]

यह कथन इस तथ्य को स्थापित करता है कि बहुजन नाटक केवल कलात्मक कृति नहीं, बल्कि सामाजिक दायित्व निभाने वाला माध्यम है। यह नाटक दमनकारी संरचनाओं को उजागर कर बहुजन समाज में आत्मगौरव और प्रतिरोध की चेतना जगाता है। इसमें पात्र मात्र पीड़ित नहीं, बल्कि संघर्ष और मुक्ति के वाहक होते हैं। इस प्रकार बहुजन नाटक बहुजन की अस्मिता की रक्षा और उनके सामाजिक-सांस्कृतिक मुक्ति आंदोलन का जीवंत औजार बनकर सामने आता है।

इस दृष्टि से हिंदी नाटक और

''बहुजन नाटक केवल कलात्मक कृति नहीं, बल्कि सामाजिक दायित्व निभाने वाला माध्यम है। यह नाटक दमनकारी संरचनाओं को उजागर कर बहुजन समाज में आत्मगौरव और प्रतिरोध की चेतना जगाता है। इसमें पात्रा मात्रा पीड़ित नहीं, बल्कि संघर्ष और मुक्तिफ के वाहक होते हैं।''

रंगमंच की परस्परता बहुजन विमर्श के लिए केवल साहित्यिक बहस नहीं, बल्कि सामाजिक मुक्ति का औजार है। यही कारण है कि जब-जब बहुजन की मुक्ति का सवाल उठता है, तब-तब हिंदी नाटक और रंगमंच की यह जोड़ी प्रतिरोध, संघर्ष और परिवर्तन की धारा को नई गति प्रदान करती है। साहित्य की अन्यो विधाओं या भाषणों से अधिक नाटकों की प्रस्तुधतिट बहुजन समाज पर असर करती है। स्वयं अम्बेडकर जी ने कहा है -"मेरे सौ भाषणों से कहीं अधिक एक नाटक की प्रस्तुति लोगों पर असर डालती है।"[2]

भारतीय रंगमंच की परंपरा बहुत प्राचीन और विस्तृत रही है, किन्तु इस परंपरा में बहुजन के जीवन का स्वर या तो अनुपस्थित रहा या फिर उसे हाशिये पर डाल दिया गया। भरतमुनि ने नाटकों को नाट्यधर्मी और लोकधर्मी रूपों में बाँटा था, जिनमें लोकधर्मी रूप आम जनजीवन के दुख-दर्द को सहज भाषा में प्रस्तुत करता था। किंतु सामाजिक-सांस्कृतिक दृष्टि से वंचित और उपेक्षित समुदाय का जीवन वहाँ भी पूरी तरह से नहीं उभर सका। बहुजन रंगमंच इसी शून्य को भरने का प्रयास है, जहाँ मंच कला या मनोरंजन का साधन न होकर अस्मिता, संघर्ष और चेतना का औजार बन जाता है।

हिंदी नाटक और रंगमंच बहुजन की मुक्ति का सवाल

नाटक साहित्यर की सबसे प्रभावी विधा है। क्योंकि इसे पढ़ने के साथ देखा और सुना भी जाता है, जिससे शिक्षितों के अर्द्ध शिक्षित और अशिक्षित भी लाभान्वित होते हैं। अधिकतर बहुजन समाज अर्द्ध शिक्षित हैं। ऐसे में नाटक इस समाज की मुक्ति के लिए सबसे बड़ा हथियार हो सकता है। मोहनदास नैमिशराय लिखते हैं- "दलित नाटक वह है, जिसमें रक्त संचार की भांति चेतना का संचार होता हो। यहां तिलिस्मफरेब, प्रेम-प्रसंग, माला-कमंडल, मूर्ति-मंडन, तिलक-त्रिपुंड या आकाशीय कल्पनाओं के लिए कोई जगह नहीं है।"[3]

मोहनदास नैमिशराय का यह कथन बहुजन नाटक की आत्मा और उसके वैचारिक तेवर को सामने लाता है। वे स्पष्ट करते हैं कि बहुजन नाटक किसी तिलिस्मी, आडंबरपूर्ण या पौराणिक कल्पनाओं का मंचन नहीं है, बल्कि यह सामाजिक यथार्थ का सीधा साक्षात्कार है। इसका उद्देश्य मात्र मनोरंजन नहीं, बल्कि बहुजन समाज में चेतना और संघर्ष की ऊर्जा का संचार करना है। यह नाटक अतीत के उत्पीड़न की पुनरावृत्ति नहीं, बल्कि वर्तमान की असमानताओं, शिक्षा, विकास और पुनर्वास से जुड़े सच को उद्घाटित करता है। नैमिशराय इस बात पर बल देते हैं कि बहुजन नाटक में संख्या नहीं, बल्कि गुणवत्ता और प्रामाणिकता का महत्व है। इस दृष्टि से, बहुजन रंगमंच अपनी यथार्थपरकता और संघर्षशील प्रवृत्ति के कारण सामाजिक मुक्ति और परिवर्तन का सशक्त माध्यम सिद्ध होता है।

हिंदी साहित्य के परिप्रेक्ष्य में यदि नाट्य परंपरा पर दृष्टि डालें तो यह तथ्य सामने आता है कि बहुजन संदर्भित नाटकों की रचना नगण्य रही है। हिंदी नाटक और रंगमंच की दृष्टि से बहुजन की मुक्ति का प्रश्न उठाते समय हमारे सामने दो बुनियादी सवाल खड़े होते हैं—पहला यह कि बहुजनों की मुक्ति को लेकर कितने नाटक लिखे गए हैं, और दूसरा यह कि ऐसे नाटकों का मंचन किस स्तर तक हुआ।

हिंदी साहित्य के इतिहास में आधुनिक काल में गद्य के विकास की एक सशक्त कड़ी नाटक रहे हैं। शुक्ल जी के मतानुसार, इस दौर में नाटक के रूप में गद्य का एक नया स्वरूप सामने आया। किंतु इस आरंभिक समय में बहुजन केंद्रित नाटक सचेत रूप से नहीं लिखे गए। जो कुछ भी लिखा गया, वह अनायास ही था। इन नाटकों में बहुजन अस्मिता को स्थायित्व प्रदान करने की कोई स्पष्ट कोशिश नहीं हुई। हाँ, छिटपुट रूप में उनका जीवन-चित्रण अवश्य सामने आया, किंतु अस्मिता का स्वर मुखर नहीं हो सका। यह भी कहना गलत न होगा कि उस दौर में कुछ नाटक लिखे जरूर गए, किंतु मुख्यधारा के साहित्यकारों और आलोचकों ने उन्हें अनदेखा किया।

स्वामी अछूतानंद हरिहर, जयशंकर प्रसाद के समकालीन थे और बहुजन प्रश्नों को केंद्र में रखकर नाटक रच रहे थे, किंतु शुक्ल जैसे आलोचकों की

दृष्टि इन पर नहीं पड़ी। जिस आलोचना-दृष्टि ने बौद्ध सिद्धों और कबीर जैसे रचनाकारों को साहित्यिक परिधि से बाहर कर दिया, वह बहुजन नाट्यधारा को कैसे स्वीकार करती! इसके बाद भीष्म साहनी, स्वदेश दीपक, हबीब तनवीर, शंकर शेष और आगे चलकर ललित सिंह यादव जैसे साहित्यकारों ने बहुजन जनजीवन को नाटकों में स्थान दिया।

बहुजन विमर्श के आरंभिक काल में आत्मकथाएँ और कहानियाँ प्रधान थीं, किंतु धीरे-धीरे बहुजन और गैर-बहुजन दोनों ही लेखकों ने नाटक की ओर रुख किया। माता प्रसाद, ओमप्रकाश वाल्मीकि, मोहनदास नैमिशराय, रत्नकुमार सांभरिया, सुशीला टाकभौरे, सुरेश चंद्र, रूपनारायण सोनकर, बिहारीलाल हरित और सूरजपाल चौहान जैसे रचनाकारों ने बहुजन अस्मिता, संघर्ष और मुक्ति को केंद्र में रखकर सशक्त नाटकों का सृजन किया।

इनमें से बहुत कम नाटककारों का संबंध रंगमंच से रहा। यानी नाटकों का मंचन तो वे चाहते थे, लेकिन अधिकांश नाटककार किसी नाट्य संस्थान से जुड़कर नाटकों का मंचन करवाने या करने में अपनी सार्थक भूमिका नहीं निभा सके।

मिश्रीलाल मीणा और भीमसेन संतोष की नाटिकाओं में बहुजन चेतना का स्वर मुखरित होता दिखाई देता है। इन नाटिकाओं को पढ़ने और देखने से यह बोध होता है कि मिश्रीलाल मीणा की अपनी आवाज भी सशक्त और बुलंद है। भीमसेन संतोष के दो नाटक– 'कर्मयोगी' (1982) और 'शोषितों के नाम संतोष का पैगाम' (1983) प्रकाशित हुए। इसके अतिरिक्त बहुजन नाट्य मंच के माध्यम से कर्मशील भारती ने 1989 ई. में 'मेरा वजूद' शीर्षक नाटक का मंचन आंबेडकर भवन, दिल्ली में 'बहुजन नाट्य मंच' के बैनर तले किया। यह मंचन पूर्णतः अव्यावसायिक था।

''जिस आलोचना-दृष्टि ने बौद्ध सिद्धों और कबीर जैसे रचनाकारों को साहित्यिक परिधि से बाहर कर दिया, वह बहुजन नाट्यधरा को कैसे स्वीकार करती!''

इस प्रयास के बाद बहुजन प्रश्नों और सामाजिक सरोकारों को केंद्र में रखकर अनेक नाटक लिखे और खेले जाने लगे। स्वयं कर्मशील भारती ने 'मंदिर प्रवेश' (1989), बहुजन दूल्हे को घोड़ी से उतारने की परंपरा पर आधारित 'मान-सम्मान' (1990), बंधुआ मजदूरी पर 'श्रेष्ठ कौन' (1992), मेहराजा कांड पर 'फाँसी' (1992), बहुजन महिला को निर्वस्त्र करने की घटना पर 'झूठा अहंकार' (1993), 'जूता अफसर का' (1994), तथा कुम्हेर कांड पर 'आजादी किसकी' (1995) जैसे सशक्त नाटकों का लेखन और मंचन किया।

इसी क्रम में के. नाथ के भी सात नाटक उल्लेखनीय हैं–'आँचल' (1976), 'अमराई' (1977), 'नया सवेरा' (1978), 'भारत लीला' (1982), 'यह कारवाँ' (1983), 'जागो' (1985) और 'आम्रपाली' (2002)। रतनलाल सोनागरा का 'क्रांतिबा फूले' (1998), मनोज कुमार के 'मेजर निकम्मा' (1997) तथा 'रक्षक ही श्रेष्ठ है' (1999), और देवकुमार के 'अंगुलिमाल' (1986), 'नशा ले डूबा' (1986), 'महर्षि सुदर्शन' (1991), 'लॉटरी के बीमार' (1993), तथा 'दासता' (1993-94) जैसे नाटक इस कड़ी में आते हैं।

इन प्रारंभिक हिंदी नाटकों में बहुजन की चेतना आंबेडकरी विचारधारा से प्रेरित रूप में उभरती है। यद्यपि इनमें से अनेक नाटक प्रकाशित नहीं हो सके, फिर भी इन रचनाकारों और रंगकर्मियों ने अपने साहसिक प्रयासों से बहुजन नाट्य परंपरा की नींव रखने में सराहनीय कार्य किया।

वर्तमान दौर में राजेश कुमार ऐसे नाटककार हैं, जिन्होंने बहुजन जीवन को अपने नाटकों का केंद्र बनाया है। आंबेडकरी विचारधारा को आत्मजसात करते हुए उन्हों ने कई नाटक लिखे हैं, जिनमें 'आंबेडकर और गाँधी', 'सत भाषै रैदास', 'घर वापसी', 'सुखिया मर गया भूख से' आदि प्रमुख हैं। वे न केवल लेखन करते हैं बल्कि अपने कई सहयोगियों के साथ एक सफल रंगकर्मी के रूप में मंचन की जिम्मेदारी भी निभाते हैं। शोधपूर्ण श्रम के साथ उन्होंने बहुजन संदर्भित नाटकों को साहित्यिक परिधि में लाने का कार्य किया और इस भ्रांति को तोड़ा कि ऐसे नाटकों को कोई देखना या पढ़ना नहीं चाहता। उनका योगदान हिंदी बहुजन नाट्य परंपरा में और रंगमंचीय दृष्टिकोण अमूल्य है।

आज हिंदी में लगभग पाँच दर्जन नाटक उपलब्ध हैं, जिनमें बहुजन जीवन, उनकी राजनीतिक-सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियाँ और उनकी अस्मिता के प्रश्न स्पष्ट रूप से उभरते हैं। इन नाटकों ने समाज में व्याप्त घृणात्मक दृष्टिकोण को चुनौती दी है और

आत्मबोध जगाने का प्रयास किया है।

अब प्रश्न उठता है–क्या ऐसे नाटक वास्तव में बहुजन समाज तक पहुँच पा रहे हैं? मंचन और पुस्तक–प्रकाशन दोनों स्तरों पर कुछ सफलता अवश्य मिली है। पुस्तकों के माध्यम से यह विमर्श बहुजन समाज के शिक्षित वर्ग तक पहुँचता है और वहाँ चर्चित होता है, किंतु विशाल जनसमूह तक इसकी पहुँच अब भी सीमित है। अशिक्षित और अर्धशिक्षित बहुजन समुदाय, जो जीवनयापन की जद्दोजहद में उलझा हुआ है, इन नाटकों से दूर है।

पुस्तकों के माध्यम से यह विमर्श बहुजन समाज के शिक्षित वर्ग तक पहुँचता है और वहाँ चर्चित होता है, किंतु विशाल जनसमूह तक इसकी पहुँच अब भी सीमित है। अशिक्षित और अर्धशिक्षित बहुजन समुदाय, जो जीवनयापन की जद्दोजहद में उलझा हुआ है, इन नाटकों से दूर है।

दिल्ली, पटना और कोलकाता जैसे महानगरों में बहुजन विमर्श पर आधारित नाटकों के मंचन, संगोष्ठियों और परिचर्चाओं की गूँज सुनाई देती है, किंतु यह विमर्श ग्रामीण इलाकों और बस्तियों तक नहीं पहुँच पाता। गंगा के इस पार पटना में थिएटरों की जगमगाहट है, वहीं दूसरी ओर सोनपुर जैसे ग्रामीण अंचल में साहित्य और नाटक का नामोनिशान तक नहीं। मोबाइल और टीवी की दुनिया में मनोरंजन के लिए फूहड़ सामग्री आसानी से उपलब्ध है, लेकिन बहुजन जीवन और अस्मिता से जुड़े नाट्य–प्रस्तुति दुर्लभ हैं।

लोक कलाचार से प्रतिरोध तक हिंदी बहुजन रंगमंच की भूमिका

बहुजन साहित्य की जड़ें लोक–कलाचार में गहराई से धँसी हुई हैं। यही कारण है कि बहुजन नाटक भी लोक–कलाचार की परंपरा से अपने स्वर और रंग ग्रहण करते हैं। अभिनय, गीत, नृत्य, व्यंग्य और मंच–सज्जा जैसे तत्व मिलकर नाटक को एक मिश्रित कला बनाते हैं, और बहुजन नाटक इन तत्वों को आत्मसात करते हुए उन्हें जनजीवन से जोड़ते हैं। सर्वेश कुमार मौर्य ने दलित नाटकों में पाँच प्रमुख लोक तत्वों को चिन्हित किया है—लोक संगीत, लोक गीत, लोक कथा, लोक नृत्य और लोक व्यंग्य। ये सभी तत्व न केवल बहुजन नाटकों को जीवंत बनाते हैं, बल्कि उन्हें मुख्यधारा के परंपरागत नाटकों से अलग पहचान भी प्रदान करते हैं। परम्पिरागत हिंदी रंगमंच के समक्ष बहुजन रंगमंच ने चुनौती पेश की है, क्योंकि बहुजन रंगमंच मात्र मनोरंजन का साधन नहीं रहा, बल्कि उसने सामाजिक दायित्व निभाते हुए बहुजन समाज के लोक रक्षण, अन्याय के प्रतिरोध व स्वाभिमान की पुनःस्थापना और चेतना जागरण का कार्य किया। इसने परम्परागत रंगमंच की यथास्थिति–वादी प्रवृत्तियों को चुनौती देते हुए बहुजन की वास्तविक समस्याओं को सामने रखा और उन्हें सामूहिक संघर्ष के लिए प्रेरित किया। मोहनदास नैमिशराय के शब्दों में—"जितना भी दलित नाट्य साहित्य रंगमंच पर प्रस्तुत हुआ, सबका लोकरक्षण के दायित्व से परिपूर्ण दिखाई पड़ता है, अर्थात दलित समाज को अन्याय से बचाने, उसके स्वाभिमान को जगाने और उसमें चेतना जागृत करने जैसे महत्वपूर्ण कार्य का श्रेय दलित रंगमंच को ही है।"[4]

हिंदी नाटक और रंगमंच की दृष्टि से यह कथन इस तथ्य की पुष्टि करता है कि बहुजन रंगमंच ने समाज में परिवर्तनकारी भूमिका निभाई। उसने शोषण और उत्पीड़न के विरुद्ध स्वर बुलंद कर बहुजन को अपनी पहचान और अधिकार के लिए जागरूक किया। यह रंगमंच बहुजन समुदाय के लिए सांस्कृतिक मुक्ति का माध्यम बना और सामाजिक न्याय की लड़ाई में एक वैचारिक शस्त्र साबित हुआ। इस प्रकार, बहुजन नाट्य साहित्य और रंगमंच का वास्तविक महत्व उसकी कलात्मकता से अधिक उसके सामाजिक सरोकार और मुक्ति की दिशा में निहित है।

बहुजनों की कलाचार मूलतः लोक कलाचार रही है। धोबियौव्वा, कहरवा, चमरौव्वा, नौटंकी, सांग, भवाई जैसे लोकनाट्य रूप आज भी सामाजिक–सांस्कृतिक जीवन का हिस्सा हैं। इन्हीं रूपों ने हिंदी नाट्य परंपरा को नया संवेदनात्मक आयाम दिया। बहुजन चेतना की धारा ने लोकनाट्य को माध्यम बनाकर हाशिए के समाज की पीड़ा और आकांक्षाओं को सार्वजनिक विमर्श का विषय बनाया।

हिंदी रंगमंच में बहुजन नाटकों की उपस्थिति ऐतिहासिक रूप से नगण्य रही है। संस्कृत नाट्य परंपरा से लेकर आधुनिक हिंदी रंगमंच तक बहुजन प्रश्नों को योजनाबद्ध रूप से उपेक्षित रखा गया। यही उपेक्षा बहुजन नाटककारों

को अपनी स्वतंत्र राह बनाने के लिए बाध्य करती है। जैसे कविता और उपन्यास में बहुजन साहित्य ने अपनी विशिष्ट पहचान बनाई, वैसे ही रंगमंच पर भी यह संघर्ष चलता रहा। डॉ. सीताराम झा श्याम के कथन में नाट्यशास्त्र की उत्पत्ति और उसके सामाजिक उद्देश्य पर प्रकाश डाला गया है—"सामाजिक व्यवस्था को बनाए रखने के लिए एक नूतन मार्ग का अन्वेषण आवश्यक था। आचार्य भरत ने समय की मांग को ध्यान में रखते हुए बड़ी कुशलता से नाट्यशास्त्र का प्रणयन किया। उन्होंने नाटक को 'पंचम वेद' की तरह प्रतिष्ठित करते हुए उसमें सभी लोगों को सम्मिलित किया। किंतु उच्च वर्ग की महत्ता की भी उपेक्षा किसी भी रूप में नहीं की जा सकती थी। एतदर्थ भरत मुनि ने शूद्रों को नाटक देखने का अधिकार देकर एवं ब्राह्मणों को प्रेक्षागृह में ऊँचा आसन देकर निम्न और उच्च वर्गों में सामंजस्य स्थापित करने में पूर्ण सफलता प्राप्त की।'[5]

हिंदी नाटक और रंगमंच की दृष्टि से यह कथन यह दर्शाता है कि परम्परागत नाट्य-परम्परा में समावेशिता का दावा तो था, परंतु वह पूर्णतः लोकतांत्रिक नहीं था। शूद्रों को मात्र दर्शक के रूप में अधिकार देना और ब्राह्मणों को ऊँचा स्थान देना—यह सामाजिक असमानता को बनाए रखने का ही माध्यम था। बहुजन दृष्टिकोण से देखें तो यह नाट्यशास्त्रीय परम्परा मुक्ति का मार्ग नहीं, बल्कि सामाजिक नियंत्रण और सामंजस्य के नाम पर दमन का औजार थी। इसीलिए आधुनिक हिंदी नाटक और बहुजन रंगमंच का लक्ष्य इस असमानता को तोड़कर वास्तविक समता और मुक्ति की ओर मार्ग प्रशस्त करना है।

बहुजन आलोचक सर्वेश कुमार मौर्य लिखते हैं—'नाट्यशास्त्रकार पंचम वेद देकर शूद्रों की गुलामी का नया अध्याय लिखते हैं।'[6]

मोहनदास नैमिशराय के विचार लोक साहित्य और लोकनाट्यों की उस परंपरा की ओर संकेत करते हैं, जहाँ समाज के वंचित, बहुजन और बहुजन वर्ग ही लोकनाट्य के वास्तविक संवाहक और संरक्षक रहे। लेकिन लोकनाट्य का अस्तित्व, विस्तार और विकास बहुजन वर्ग पर आधारित होने के बावजूद, उसका लाभ उच्च वर्ग ने ही उठाया।

वे लिखते हैं—'मध्यकाल में जिस तरह के मौखिक क्षेत्रीय और लोग रंगमंच का जन्म और विकास हुआ वह तो पूरी तरह से बहुजन वर्ग पर आश्रित था यह लोग नाटक मंडलियों के साथ गांव दर गांव घूम-घूमकर समाज के जमींदार, संभ्रांत और धनाढ्य वर्ग का मनोरंजन किया करते थे। भांड, बिरासी, मदारी, अखाड़ेबाज और बाद में नौटंकी कलाकार—ये सब समाज के उन्हीं वर्गों का प्रतिनिधित्व करते थे, जिन्हें आज हम बहुजन के नाम से जानते हैं।"[7]

लोकनाट्य ने समाज में मनोरंजन और सांस्कृतिक चेतना का प्रसार तो किया, किंतु इससे बहुजन समुदाय को समानता या गरिमा नहीं मिली। बहुजन दृष्टिकोण से यह स्थिति इस बात को रेखांकित करती है कि उनके श्रम और कला का शोषण हुआ। इसलिए आधुनिक हिंदी नाटक और बहुजन रंगमंच का लक्ष्य इस शोषणकारी ढाँचे को ध्वस्त कर लोककला और रंगमंच को बहुजन की अस्मिता, मुक्ति और प्रतिरोध का सशक्त माध्यम बनाना है।

नाटक की सार्थकता तभी सिद्ध होती है जब उसका मंचन आम जनता तक पहुँचे। किंतु बहुजन नाटकों को मंचित करने में अनेक कठिनाइयाँ सामने आईं—संसाधनों की कमी, समाज की उदासीनता, और सरकारी उपेक्षा। इसके बावजूद नुक्कड़ नाटकों और लोकनाट्य शैलियों के माध्यम से बहुजन रंगमंच आज भी जीवित और सक्रिय है। यह मंचन किसी भव्य सभागार की अपेक्षा नहीं करता, बल्कि गलियों, चौपालों, बस्तियों और चौराहों पर अपने दर्शकों से सीधा संवाद स्थापित करता है।

बहुजन रंगमंच का मूल स्वर 'अस्मिता और प्रतिरोध' है। यह केवल मनोरंजन का साधन नहीं, बल्कि सामाजिक विषमताओं के विरुद्ध आंदोलन का रूप है। मोहनदास नैमिशराय के शब्दों में—'बहुजन रंगमंच में सिर्फ कला से काम नहीं चलता। वहाँ अस्मिता का सवाल होता है। साथ ही आंदोलन की मौजूदगी भी होती है। परिणामस्वरूप बहुजन नाटककार या रंगकर्मी के भीतर

शूद्रों को मात्रा दर्शक के रूप में अधिकार देना और ब्राह्मणों को ऊँचा स्थान देना, यह सामाजिक असमानता को बनाए रखने का ही माध्यम था। बहुजन दृष्टिकोण से देखें तो यह नाट्यशास्त्रीय परम्परा मुक्ति का मार्ग नहीं, बल्कि सामाजिक नियंत्रण और सामंजस्य के नाम पर दमन का औजार थी।

सामाजिक विषमताओं के कारण आक्रोश होता है और इसके इतर बहुजन हिताय बहुजन सुखाय का दर्शन होता है।'[8]

भारतीय रंगमंच पर ज्योतिबा फुले को बहुजन नाटक की परंपरा का प्रवर्तक माना जाता है। उनके नाटकों में न तो पारसी थिएटर की फूहड़ता थी और न ही सत्ता-प्रसाद यशोगान, बल्कि उनमें ब्राह्मणवाद, पाखंड और अंधविश्वास के विरुद्ध तीखा प्रहार था। फुले से लेकर आंबेडकर, पेरियार आदि की विचारधारा ने हिंदी बहुजन नाटकों को वैचारिक आधार और दिशा दी।

बहुजन नाटकों का स्वभाव सरल और जीवंत है। इनमें किसी प्रकार की भव्यता या तामझाम की आवश्यकता नहीं होती। बहुत कम संसाधनों के सहारे इन्हें आम जनता के बीच मंचित किया जा सकता है। यही कारण है कि नुक्कड़ नाटक बहुजन चेतना के प्रसार का सबसे प्रभावी माध्यम बनकर सामने आए। इन नाटकों ने शिक्षा, समानता, स्त्री-पुरुष असमानता, जातिगत शोषण और सामाजिक न्याय जैसे प्रश्नों को सीधे जनता तक पहुँचाया और संवाद की नई परंपरा स्थापित की।

लोकनाट्य परंपरा का आधार बहुजन समाज पर टिका रहा है। भांड, बिरहा, मदारी, नौटंकी, अखाड़ा-इन सभी रंगरूपों में बहुजन समुदाय ही कलाकार और मंच निर्माता रहे। विडंबना यह रही कि वे मंच निर्माण और मनोरंजन के उपकरण तो बने, पर अपनी पीड़ा और संघर्ष को मंचित करने में सक्षम नहीं हो पाए। यही असमानता आधुनिक बहुजन रंगमंच की आवश्यकता और औचित्य को स्पष्ट करती है।

लोकनाट्य परंपरा का आधार बहुजन समाज पर टिका रहा है। भांड, बिरहा, मदारी, नौटंकी, अखाड़ा-इन सभी रंगरूपों में बहुजन समुदाय ही कलाकार और मंच निर्माता रहे। विडंबना यह रही कि वे मंच निर्माण और मनोरंजन के उपकरण तो बने, पर अपनी पीड़ा और संघर्ष को मंचित करने में सक्षम नहीं हो पाए। यही असमानता आधुनिक बहुजन रंगमंच की आवश्यकता और औचित्य को स्पष्ट करती है।

बहुजन रंगमंच की समस्याएँ:

- आर्थिक संकट : बहुजन रंगकर्मी लाइट, सेट, मेकअप और मंचन के खर्च वहन करने में सक्षम नहीं होते।
- संस्थागत अभाव : उनके पास अपने थिएटर, नाट्य संस्थाएँ, प्रशिक्षित निर्देशक और तकनीकी कलाकार नहीं हैं।
- सामाजिक अवरोध : उच्च जातीय वर्चस्ववादी मानसिकता उनके नाटकों को व्यापक मंच तक पहुँचने से रोकती है।
- मनोरंजन की कलाचार : सिनेमा और टीवी धारावाहिकों की चकाचौंध में समाज बहुजन नाटकों को समय और महत्व नहीं देता।

बहुजन रंगमंच का महत्व :

- मंच बहुजन की पीड़ा, शोषण और संघर्ष को स्वत: उनकी आवाज में प्रस्तुत करता है।
- यह केवल साहित्यिक विमर्श नहीं, बल्कि सामाजिक आंदोलन का विस्तार है।
- बहुजन नाटक जातिगत भेदभाव और धार्मिक रूढ़ियों को चुनौती देते हुए मुक्ति और समानता की चेतना जगाते हैं।
- नुक्कड़ नाटक और कम-खर्चीय मंचन इसकी सबसे बड़ी ताकत है, जिससे यह सीधे बहुजन बस्तियों तक पहुँच सकता है।

मुक्ति का सवाल और भविष्य की दिशा :

बहुजन रंगमंच का मूल लक्ष्य मुक्ति है–

- सामाजिक उत्पीड़न से मुक्ति
- सांस्कृतिक हीनता से मुक्ति
- और राजनीतिक उपेक्षा से मुक्ति

यह तभी संभव है जब बहुजन समाज स्वयं रंगकर्मी, निर्देशक और संस्थान खड़े करे। वैश्विक स्तर पर बहुजन नाटकों को पहचान दिलाने के लिए संगठित प्रयास, प्रकाशन और मंचन दोनों आवश्यक हैं।

अत: हिंदी बहुजन रंगमंच बहुजन मुक्ति संघर्ष का सशक्त औजार है। यह केवल मनोरंजन का माध्यम नहीं, बल्कि

हिंदी बहुजन रंगमंच बहुजन मुक्ति संघर्ष का सशक्त औजार है। यह केवल मनोरंजन का माध्यम नहीं, बल्कि अस्मिता और चेतना का वाहक है। वर्तमान में इसकी सबसे बड़ी चुनौती मंचन की है, परंतु नुक्कड़ नाटकों और छोटे मंचों के सहारे यह चेतना जन-जन तक पहुँच रही है। जब तक समाज में जातिगत दमन मौजूद है, तब तक बहुजन रंगमंच की प्रासंगिकता बनी रहेगी।

अस्मिता और चेतना का वाहक है। वर्तमान में इसकी सबसे बड़ी चुनौती मंचन की है, परंतु नुक्कड़ नाटकों और छोटे मंचों के सहारे यह चेतना जन-जन तक पहुँच रही है। जब तक समाज में जातिगत दमन मौजूद है, तब तक बहुजन रंगमंच की प्रासंगिकता बनी रहेगी। यह रंगमंच बहुजन जीवन की अंधियारी गलियों को प्रकाशित करने वाला वह आईना है, जिसमें समाज अपनी कुरूपता देख सकता है और समानता पर आधारित भविष्य की कल्पना कर सकता है।

नाटक और रंगमंच से बहुजन समाज की स्त्रियाँ कितनी दूर :

आधुनिकता मनुष्य के जीवन में परंपरा से अलगाव की वह प्रवृत्ति है, जिसमें पुरानी परंपराएँ टूटकर नए प्रतिमान गढ़े जाते हैं। इसका उद्देश्य मनुष्य-मनुष्य के भेद को मिटाना और स्त्री-पुरुष के बीच असमानता को धूमिल करना है। आधुनिकता का यह प्रवाह नदियों की भांति समाज में बहता हुआ समय और स्थान के अनुसार समाज को प्रभावित करता है। नदी के दोनों तटों की भिन्नता की तरह समाज, कलाचार और विचारधारा भी बदलती रहती है।

यदि हम पटना से होकर गुजरने वाली गंगा नदी के दोनों किनारों पर दृष्टि डालें तो एक ओर पटना की शहरी कलाचार है, तो दूसरी ओर सोनपुर की ग्रामीण कलाचार। शहरी स्त्रियाँ घर-गृहस्थी की जिम्मेदारियों के बीच भी अपने बच्चों के भविष्य को संवारने के लिए शिक्षा को साधन बनाती हैं, जबकि ग्रामीण स्त्रियाँ आजीविका के लिए लकड़ी चुनने और मछलियाँ पकड़ने तक में संघर्षरत रहती हैं। आधुनिकता और बदलती कलाचार की लहरें इन्हें छू भी नहीं पातीं। यहाँ एक ओर आशा और संभावनाएँ हैं, वहीं दूसरी ओर लगातार संघर्ष और विवशता का जीवन। इन तक न तो नाटक पहुँचते हैं और न रंगमंच। क्योंकि यहाँ शिक्षित स्त्रियों की संख्याश नहीं के बराबर होती है। ऐसे में यहाँ नाटक पहुँचे भी तो क्या होगा। लेकिन यही नाटक उन्हीं बहुजन स्त्रियों की बस्ती में पहुँचे तो बहुत कुछ बदल सकता है।

सदियों पुरानी परंपराओं के बीच स्त्रियों के प्रति दृष्टिकोण बदलने में आधुनिकता की भूमिका आंशिक रही है, निर्णायक नहीं। आधुनिकता के साथ-साथ उत्तर-आधुनिकता का वातावरण भी निर्मित हो रहा है, किंतु समाज अभी भी पिछड़ेपन से जूझ रहा है। आज 21वीं सदी में भूमंडलीकरण, विज्ञान, प्रौद्योगिकी, नव-पूँजीवाद के साथ-साथ साहित्य में स्त्री-विमर्श, बहुजन-विमर्श और आदिवासी-विमर्श जैसे विमर्श उभरकर सामने आए हैं। लेकिन अभी भी ऐसा कोई व्यापक विमर्श नहीं है, जो सभी विमर्शों को जोड़कर बहुजन मुक्ति का साझा पुल बना सके।

शहरी स्त्रियाँ घर-गृहस्थी की जिम्मेदारियों के बीच भी अपने बच्चों के भविष्य को संवारने के लिए शिक्षा को साधन बनाती हैं, जबकि ग्रामीण स्त्रियाँ आजीविका के लिए लकड़ी चुनने और मछलियाँ पकड़ने तक में संघर्षरत रहती हैं। आधुनिकता और बदलती कलाचार की लहरें इन्हें छू भी नहीं पातीं। यहाँ एक ओर आशा और संभावनाएँ हैं, वहीं दूसरी ओर लगातार संघर्ष और विवशता का जीवन। इन तक न तो नाटक पहुँचते हैं और न रंगमंच।

ब्राह्मणवादी व्यवस्था में स्वयं ब्राह्मण स्त्रियाँ भी रूढ़िवादिता का शिकार रही हैं। उन्हें उपनयन संस्कार से वंचित रखा गया, गायत्री मंत्र के पाठ का अधिकार नहीं दिया गया और धार्मिक अनुष्ठानों में केवल प्रतीकात्मक स्थान दिया गया। विडंबना यह रही कि बहुजन स्त्रियों के शोषण और भोग के लिए यही व्यवस्था अपने बनाए नियमों को तोड़ देती थी। इस प्रकार ब्राह्मणवाद की दोहरी मानसिकता स्त्री-शोषण का आधार बनी।

बहुजन समाज में भी स्त्रियों की स्थिति बहुत भिन्न नहीं रही। बहुजन पुरुषों में भी पितृसत्तात्मक दृष्टिकोण दिखाई देता है। शिक्षा और नौकरी पाकर वे शहरी जीवन में बस जाते हैं और सवर्ण या उच्चवर्गीय स्त्रियों से विवाह करके अपनी जड़ों से कट जाते हैं। परिणामस्वरूप श्रमशील ग्रामीण बहुजन स्त्रियों को वे हीन दृष्टि से देखने लगते हैं। इस तरह बहुजन स्त्रियाँ दोहरे शोषण की शिकार होती हैं—एक ओर उच्च जातियों से और दूसरी ओर अपने ही समाज के भीतर से।

बहुजन साहित्य मूलतः अस्मिता-आधारित विमर्श है, जिसमें शोषित और

वंचित समुदायों की अस्मिता का प्रश्न उठता है। प्रारंभिक दौर में इसका स्वरूप पुरुष-प्रधान रहा, जहाँ स्त्रियों की अस्मिता का स्वर अनुपस्थित रहा। फलस्वरूप साहित्यिक मंच पर बहुजन स्त्रियाँ हाशिए पर धकेली गई और सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन में उनकी भागीदारी गौण हो गई। परंतु अब परिस्थितियाँ बदल रही हैं। बहुजन स्त्रियाँ अपनी अस्मिता और श्रम के मूल्य को पहचानते हुए लेखन और रंगमंच पर अपनी उपस्थिति दर्ज करा रही हैं।

अनीता भारती की पुस्तक 'समकालीन नारीवाद और बहुजन स्त्री का प्रतिरोध' इसका उदाहरण है, जिसमें पितृसत्ता और जातिगत शोषण के विरुद्ध प्रतिरोध मुखर है। प्रश्न यह है कि स्वतंत्रता किसकी-सवर्ण स्त्री की या दलित स्त्री की? सवर्ण स्त्रियों की अपेक्षा बहुजन स्त्रियों की स्थिति कहीं अधिक दयनीय है। जब बहुजन स्त्रियाँ अपना स्वर उठाती हैं, तो उन पर प्रहार न केवल सवर्ण साहित्यकार करते हैं, बल्कि बहुजन पुरुष साहित्यकार और आलोचक भी। इसके बावजूद वे अपनी लेखनी और मंच के माध्यम से अपने अस्तित्व और अधिकार की लड़ाई जारी रखे हुए हैं।

शिक्षा से वंचित रहने के कारण बहुजन स्त्रियों की प्रतिभा लंबे समय तक दबकर रही, किंतु अब वे साहित्य और समाज दोनों में सक्रिय भागीदारी निभा रही हैं। बहुजन स्त्री विमर्श आधुनिकता के आईने में केवल अस्मिता का प्रश्न नहीं, बल्कि दोहरे शोषण के विरुद्ध प्रतिरोध का सशक्त स्वर है। आधुनिकता ने उनके अधिकारों की चेतना को जगाया है, परंतु वास्तविक मुक्ति तभी संभव है जब समाज उन्हें समान अवसर और सम्मान प्रदान करे।

''हिंदी में बहुजनों को केंद्रित करके बहुत से नाटक लिखे गए। उनकी चेतना, अस्मिता और संघर्ष की बात उठायी गयी, लेकिन ऐसे बहुत कम नाटक लिखे गए, जिसमें बहुजन की चेतना, अस्मिता और संघर्ष को संयुक्त रूप से चित्रित किया गया हो।''

असली आधुनिकता वही है, जो जाति और लिंग दोनों स्तरों पर समानता सुनिश्चित करे। हिंदी नाटक और रंगमंच इस चेतना को अभिव्यक्त करने का सबसे प्रभावी माध्यम हैं। रंगमंच केवल मनोरंजन का साधन नहीं, बल्कि समाज का दर्पण है, जो उसके अंतर्विरोधों को उजागर करता है।

हिंदी में बहुजनों को केंद्रित करके बहुत से नाटक लिखे गए। उनकी चेतना, अस्मिता और संघर्ष की बात उठायी गयी, लेकिन ऐसे बहुत कम नाटक लिखे गए, जिसमें बहुजन की चेतना, अस्मिता और संघर्ष को संयुक्त रूप से चित्रित किया गया हो। इस संदर्भ में एक नाटककार प्रो. सुरेश चन्द्र का उल्लेख करना आवश्यक प्रतीत होता है। प्रो. चन्द्र ने बहुजन साहित्य पर सशक्त रूप से लेखनी चलाई है, लेकिन प्रमुखता नाटकों को दी है। संवेदना की दृष्टि से इन्होंने अच्छे नाटकों की रचना की है। 'मंदिर से अस्पताल', 'मनुवादी बहुजन', 'बहुजनों के सूर्य','महाभि-निष्क्रमण', 'चौकीदारी पीठ' आदि इनके प्रमुख नाटक हैं। प्रो. चन्द्र जी ने बुद्ध और आंबेडकर-फूले की विचारधारा को अपने नाटकों के माध्यम से गहराई से अभिव्यक्त किया है। लेकिन इनके नाटक रंगमंचीय दृष्टिकोण से उतने सफल नहीं हैं, क्योंकि दृश्यों का संयोजन ठीक-ठाक नहीं है। किसी-किसी अंक में तो चार चक्का गाड़ियों का दृश्य उपस्थित किया गया है। और भी ऐसे कई अटपटे दृश्य हैं। संवाद बहुत लंबे-लंबे हैं। इतने लंबे कि एक-एक पात्र पाँच-पाँच मिनट तक बोल सकते हैं यानी शिल्प पक्ष काफी कमजोर दिखाई पड़ता है। लेकिन संवेदना की दृष्टि से अच्छे नाटक हैं।

प्रो. सुरेश चन्द्र जी का एक पक्ष बहुत मजबूत दिखाई देता है कि उन्होंने अपने कई नाटकों में बहुजन के संघर्ष की बात संयुक्त रूप से उठाई है। इस संदर्भ में उनका नाटक 'समवादी सत्ता' हिंदी नाटक और रंगमंच में बहुजन मुक्ति का सशक्त आख्यान है। यह नाटक बुद्ध, फूले, अंबेडकर, पेरियार और कांशीराम जैसे महापुरुषों के जीवन-दर्शन को आधार बनाकर बहुजनों की स्वतंत्रता और समानता की राह तलाशता है।

'समवाद' की अवधारणा के माध्यम से यह नाटक राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक समरसता की कल्पना प्रस्तुत करता है। नाटक में यह संकेत मिलता है कि बहुजनों की मुक्ति केवल संघर्ष और समरस संवाद की प्रक्रिया से ही संभव है। राजनीति को केवल सत्ता-प्राप्ति का साधन न मानकर मुक्ति और समानता का मार्ग बनाने पर बल दिया गया है।

अंत में, गाँव और शहर की राजनीति के एकरूपता का चित्रण यह

स्पष्ट करता है कि बहुजन मुक्ति का प्रश्न केवल किसी विशेष क्षेत्र तक सीमित नहीं, बल्कि समूचे समाज का प्रश्न है। सामाजिक और राजनीतिक संघर्ष के आधार पर समवादी सत्ता की स्थापना नाटक का केंद्रीय संदेश है। इस प्रकार 'समवादी सत्ता' हिंदी रंगमंच पर बहुजन चेतना का उद्घोषक बनकर सामने आता है और मुक्ति के प्रश्न को नए आयाम प्रदान करता है।

वस्तुत: बहुजन केंद्रित नाटक और रंगमंच जाति और लिंग आधारित शोषण को प्रत्यक्ष और मार्मिक ढंग से सामने लाते हैं। जिस प्रकार गंगा के दोनों तटों पर शहरी और ग्रामीण जीवन-स्थितियों का अंतर स्पष्ट है, उसी प्रकार मंच पर स्त्रियों की भिन्न-भिन्न परिस्थितियाँ सजीव होकर सामने आती हैं।

ब्राह्मणवादी व्यवस्था और पितृ-सत्तात्मक मानसिकता ने सदियों तक स्त्रियों को परतंत्र बनाए रखा। बहुजन स्त्रियाँ यहाँ दोहरे शोषण का शिकार बनीं—उच्च जातियों से भी और अपने समुदाय के भीतर से भी। हिंदी रंगमंच ने इस अंतर्विरोध को सामने लाकर यह सिद्ध किया है कि बहुजन स्त्री की अस्मिता केवल साहित्यिक प्रश्न नहीं है, बल्कि सामाजिक और सांस्कृतिक मुक्ति का भी प्रश्न है।

प्रारंभिक बहुजन नाटक और साहित्य में स्त्रियों की अस्मिता लगभग अनुपस्थित रही, परंतु अब अनीता भारती जैसी लेखिकाओं और नाट्य प्रस्तुतियों ने इस हाशियाकरण को तोड़ा है। पितृसत्ता और जातिवाद के विरुद्ध मुखर स्वर बहुजन स्त्री विमर्श को वास्तविक आधुनिकता की दिशा में ले जाता है।

अत: हिंदी नाटक और रंगमंच बहुजन मुक्ति का सबसे प्रखर मंच बनकर उभरे हैं। जब बहुजन समाज की स्त्रियों का विमर्श रंगमंच के माध्य म से आकार लेता है, तो वह केवल अस्मिता की पुकार नहीं रह जाता, बल्कि एक व्यापक सामाजिक आंदोलन का स्वरूप ग्रहण कर लेता है। यही स्वर बहुजन स्त्री विमर्श की असली ताकत है और यही वास्तविक आधुनिकता की पहचान भी।

यही कारण है कि जब तक बहुजन समाज के बीच जाकर, उनकी बस्तियों और गाँवों में इन नाटकों का मंचन नहीं होगा, तब तक इनकी वास्तविक सार्थकता अधूरी रहेगी। आवश्यकता इस बात की है कि आर्थिक रूप से सक्षम बहुजन साहित्यकार, रंगकर्मी और समाज के हितैषी लोग पहल करें और ग्रामीण क्षेत्रों में ऐसे नाटकों की प्रस्तुति करवाएँ। तभी चेतना का संचार होगा, अस्मिता का बोध जागेगा और मुक्ति की राह प्रशस्त होगी।

हिंदी नाटक और रंगमंच सामाजिक यथार्थ को सामने लाने का प्रभावी माध्यम रहा है। विशेषत: बहुजन मुक्ति के प्रश्न पर यह विधा केवल कलात्मक प्रस्तुति तक सीमित नहीं रहती, बल्कि सामाजिक परिवर्तन का हथियार भी बनती है। आधुनिकता के संदर्भ में जब बहुजन स्त्री विमर्श की चर्चा होती है तो यह स्पष्ट होता है कि नाटक और रंगमंच परंपरा और आधुनिकता के बीच पुल का कार्य करते हैं। जाति और लिंग—दोनों स्तरों पर स्त्रियों के शोषण की परतें रंगमंच पर उद्घाटित होकर समाज को आईना दिखाती हैं। इस परिप्रेक्ष्य में बहुत से बहुजन नाटक बहुजन स्त्रियों की अस्मिता, स्वतंत्रता और उनके दोहरे शोषण के प्रश्न को केन्द्र में रखता है तथा यह रेखांकित करता है कि वास्तविक आधुनिकता तभी संभव है जब रंगमंच जाति और लिंग की दीवारों को तोड़ते हुए समानता का स्वप्न साकार करे।❑

सूचना

पत्रिका की सदस्यता के लिए संपर्क करें

9971566918

संदर्भ:

1. वीमा, भभूल्या , उजास (तीन नाटक), रत्नककुमार सांभरिया, श्री नटराज प्रकाशन, दिल्लीा, संस्करण–2020, मेरी बात, पृ. सं.–5
2. बहुजन साहित्य की अवधारणा में रंगमंच, मोहनदास नैमिशराय, भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, राष्ट्रपति निवास, शिमला - 171005, संस्करण-2017 ई., पृ. सं.–54
3. हिंदी बहुजन रंगमंच की दस्तक, मोहनदास नैमिशराय, मोहनदास नैमिशराय, अनन्य प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण–2022 ई., पृ. सं.–140.
4. हिंदी बहुजन रंगमंच की दस्तक, संपादक-मोहनदास नैमिशराय, अनन्य प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण-2022 ई., पृष्ठ सं.–11
5. हिंदी नाटक: समाजशास्त्रीय अध्ययन, डॉ. सीताराम झा श्याम, बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी पटना, संस्करण - 2013 ई.,पृ. सं.–12
6. बहुजन नाटक की आलोचना, सर्वेश कुमार मौर्य, स्वराज प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण-2015 ई. पृ. सं.–23
7. हिंदी बहुजन साहित्य, मोहनदास नैमिशराय, साहित्य अकादेमी प्रकाशन, संस्करण–2011 ई. दिल्ली, पृ. सं.–219
8. बहुजन साहित्य की अवधारणा में रंगमंच, प्राक्कथन, मोहनदास नैमिशराय, भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, राष्ट्रपति निवास, शिमला-171005, संस्करण-2017 ई., पृ. सं.-iv

भारतीय ज्ञान परंपरा में आजीवक

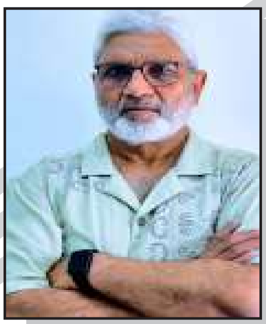

ईश कुमार गंगानिया

जन्मः

15 अगस्त 1957

शिक्षाः

एम.ए. (अंग्रेजी व राज. विज्ञान) व बी.एड.

कृतिः

हिंदी में-

12 काव्य संग्रह, 1 ग़ज़ल संग्रह, 1 कहानी संग्रह, 1 उपन्यास, 2 पुस्तकें मूलनिवासियों के संघर्ष पर, 8 किताबें साहित्यिक आलोचना व समकालीन मुद्दों पर व एक आत्मवृत

अंग्रेजी में-

1 कहानी संग्रह, 1 उपन्यास, 1 कविता संग्रह, 1 ओटोबायोग्राफी

ikgangania@gmail.com

भारतीय ज्ञान परंपरा से हमारा तात्पर्य उस ज्ञान-विज्ञान की परंपरा से है जो प्राचीन काल से शुरु होती है और वर्तमान से होते हुए भविष्य की ओर सतत अग्रसर रहती है। इस परंपरा के अनुसरण के दौरान हम लौकिक, अलौकिक,धर्म-कर्म, भोग-उपभोग, त्याग-तपस्या, जीवन-मृत्यु आदि से जुड़े अनेक अध्ययनों के साथ-साथ विभिन्न संस्कृतियों के रूबरू होते हैं। ऐसा प्रचलित है कि ज्ञान परंपरा की यात्रा प्राचीन काल में मौजूद ऋषि और गुरुकुल से शुरू होती है; यह तक्षशिला, नालंदा, विक्रमशिला, उज्जयिनी, काशी आदि विश्व प्रसिद्ध शिक्षा और शोध के प्रमुख केंद्रों से होते हुए आधुनिक विश्वविद्यालयों और शोध संस्थानों के माध्यम से निर्बाध रूप से जारी है। ज्ञान के संवर्धन की इस परंपरा में देश-विदेश की राजनीतिक व भौगोलिक सीमाएं सदैव गौण रहती हैं; और ज्ञान परंपरा का कारवां ज्ञान के आपसी आदान-प्रदान के साथ निरंतर चलता रहता है। राष्ट्रीय शैक्षिक अनु-संधान और प्रशिक्षण परिषद के 'भाषा शिक्षा विभाग' द्वारा आयोजित वर्तमान संगोष्ठी 'भारतीय ज्ञान परंपरा का सातत्य' भी इसी परंपरा का स्वाभाविक अंग है।

मुझे 'भारतीय ज्ञान परंपरा में आजीवक संस्कृति' पर बात करना है, जिसका किसी ऋषि या गुरुकुल परंपरा से कोई वास्ता नजर नहीं आता। यह कार्य एक अंधेरी कोठरी (अंधेरी कोठरी ही नहीं, बल्कि एक अंधकार युक्त जंगल) में काली बिल्ली की तलाश करने जैसा है। ऐसा इसलिए कहा जा रहा है कि आजीवक से संबंधित कोई विश्वसनीय जानकारी उपलब्ध नहीं है। जो कुछ भी इस संस्कृति के विषय में उपलब्ध है, वह बेहद भ्रामक, छितराई व विरोधाभासी है। दूसरे, हम पाते हैं कि यह सारी जानकारी इस संस्कृति को नष्ट करने और इसे बदनाम करने वालों के साहित्य में उपलब्ध है, जो इस स्थिति को करेला और ऊपर से नीम चढ़ा जैसा बनाती है। यह भारतीय ज्ञान परंपरा का वह काला अध्याय है, जिसमें ज्ञान की एक परंपरा ने, ज्ञान की एक दूसरी यानी चार्वाक/लोकायत/आजीवक परंपरा का नामोनिशान मिटाने में मर्यादा की सारी हदें पार कर दी। कहने की जरूरत नहीं कि नामोनिशान मिटाने की यह परंपरा आज भी जारी

है।

इसके विपरीत एकलव्य का अंगूठा न रहने का यह अर्थ नहीं निकाल लिया जाना चाहिए कि एकलव्यों ने अपने आपको तीरंदाजी यानी ज्ञान की परंपरा से डिसोन कर लिया है। आज ये हाथ से ही नहीं, बल्कि मुंह और पैरों से भी तीरंदाजी करने की क्षमता रखते हैं। आजीवक को लेकर मौजूदा कवायद यही है कि हमें विरोधियों के साहित्य में उपलब्ध छिन्न-भिन्न कर दिए गए बेहद सीमित यानी ना के बराबर अवशेषों की मदद से इस संस्कृति को पुनः अपने पैरों पर खड़ा करना है। हमारे लिए यह किसी प्रतिद्वंद्विता या प्रतिशोध का विषय नहीं है, बल्कि पतन की दिशा में अग्रसर वर्तमान समाज को इस पतन से रोकना है। यह किसी से छिपा नहीं हैं कि प्राचीन काल में आजीवक संस्कृति के विलुप्तिकरण के पीछे जो तथाकथित धार्मिक व राजनीतिक ताकतें मौजूद थीं, कमोबेश उसी मानसिकता की पोषक ताकतें आज भी सक्रिय हैं; और समाज को भ्रमजाल में फंसाकर, अपने संकीर्ण हितों को साध ने के लिए समाज का दोहन कर रही हैं। मानवता को खंडित करने वाला यह अपराध किसी देशद्रोह से कम बड़ा अपराध है। इस आलेख का मकसद समाज को आजीवक संस्कृति से रूबरू कराना है; एक बेहतर नागरिक और बेहतर समाज के निर्माण की प्रक्रिया में सार्वभौमिक वैज्ञानिकता, व्यवहारिकता और नैतिकता को सुनिश्चित करना है।

आजीवक संस्कृति को समझने से पहले 'आजीवक' और इसके चार्वाक यानी लोकायत दर्शन से संबंध को समझना जरूरी है। आनंद झा के अनुसार–'चार्वाक' यही एक ऐसा नाम है जो कि सर्वथा 'अनुच्छिष्ट' (शुद्ध, जिसमें मिलावट नहीं) है। सर्वथा अनुच्छिष्ट कहने से तात्पर्य यह है कि न यह किसी का उच्छिष्ट (जूठन) है और न इसका कोई लोक प्रस्तुति के कारण 'लोकायत', कहलाने वाले दर्शन के सर्वप्रथम आचार्य का नाम इतना अप्रसिद्ध हो, यह कम आश्चर्य की बात नहीं।'[1] आनंद झा ने यह बात चार्वाक दर्शन के विलुप्तिकरण की नाकाम साजिशों को बेनकाब करने की गरज से कही लगती है। इस एक टिप्पणी से कई बातें स्पष्ट होती हैं, एक- यह दर्शन 'प्राचीन' है, दो- 'मौलिक' है और तीन-यही 'लोकायत' दर्शन है।

इस कड़ी में अगला प्रश्न है- 'आजीवक' कौन? इस प्रश्न के उत्तर की तलाश में पुनः आनंद झा से रूबरू होना हमारी जरूरत है; बाध्यता है। इसके अनुसार-'लोकायत-सिद्धान्त अनुगामी जन ही 'आजीवक' नाम से इसलिए अभिहित होते थे कि शरीरात्मवादी होने के कारण शरीर के सदुपयोगार्थ, उसकी रक्षा के लिए आजीवक को, अर्थात श्रमात्मक आजीविका को, वे मुख्य कर्तव्य के रूप में अपनाते थे। एतदतिरिक्त यह भी कारण था आजीवक नाम से उनके पुकारे जाने का, कि वे श्रमोपयोगी स्वास्थ्य के लिए सदा सचेष्ट रहते थे। क्योंकि आजीवक का दूसरा अर्थ, पूर्ण रूप से जीवन का, अर्थात स्वास्थ्य जीवन का संपादन भी होता है। शरीर को आत्मा मानने वाले अपने स्वास्थ्य-स्वरूप जीवन के संपादन में सर्वथा सचेष्ट हों, यह सर्वथा युक्तिसंगत ही है। इन सारी बातों पर ध्यान देने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि यह दर्शन जन-जीवन से निष्ठता रखने वाले कृषि, पशुपालन, वाणिज्य आदि, राजनीति-स्वरूप दण्डनीति और स्वास्थ्यप्रद आयुर्वेद इन तीनों से पूर्ण रूप से सम्बद्ध था।'[2]

जहां तक इसकी उपयोगिता का प्रश्न है, कहने की जरूरत नहीं कि जो इस दर्शन में मौजूद है, वह अपने प्राचीन काल का ही नहीं, बल्कि वर्तमान का बेहतर प्रतिनिधित्व करने की क्षमता रखता है। अगर इसे शिक्षा जगत की वर्तमान चर्चित शख्सियतों में से एक डा. विकास दिव्यकीर्ति के शब्दों में समझें तो हमारे सामने जो तस्वीर उभरती है, वह उल्लेखनीय है-'अगर चार्वाक ग्रंथों को जलाया नहीं गया होता तो दुनिया में सबसे अधिक वैज्ञानिक भारत में होते, क्योंकि वे तर्कवादी थे। अगर चार्वाक दर्शन को बचाया गया होता तो यूनिवर्सिटी के हर विभागाध्यक्ष के नाम के सामने चार्वाक लिखा होता।'[3] जाहिर है कि यह चिंतन-दर्शन तर्क-विवेक और वैज्ञानिकता पर आधारित था। निस्संदेह, यह प्रकृति के नियम, न्याय व नैतिकता की सार्वभौमिकता पर

''अगर चार्वाक दर्शन को बचाया गया होता तो यूनिवर्सिटी के हर विभागाध्यक्ष के नाम के सामने चार्वाक लिखा होता।' जाहिर है कि यह चिंतन-दर्शन तर्क-विवेक और वैज्ञानिकता पर आधरित था। निस्संदेह, यह प्रकृति के नियम, न्याय व नैतिकता की सार्वभौमिकता पर आधरित था।''

आधारित था। लेकिन यह भी जग जाहिर है कि 'आजीवक संस्कृति' के पोषक साहित्य को जलाया गया है, नष्ट किया गया है।

प्रश्न उठता है, इस संस्कृति और इससे जुड़े चिंतन-दर्शन को नष्ट करने वाले कौन थे? डा. एल. डी. बार्नेटके अनुसार-इस अपरिष्कृत पंथ से असहमति सबसे पहले उपनिषदों में दिखाई दी, जिसमें कुछ उदारवादी ब्राह्मणों ने, शायद कुछ सैन्य अभिजात वर्ग द्वारा समर्थित, एक प्राथमिक अद्वैतवादी आदर्शवाद की अटकलों को आगे बढ़ाया, जबकि वेदवाद के किले को अज्ञानी लोगों के उपयोग के लिए बरकरार रखा। लेकिन इस समय के आसपास ब्राह्मणवादी कर्मकांड के लिए एक बहुत बड़ा खतरा पैदा हो गया, और दूर-दूर तक फैल गया, जिससे कुछ ब्राह्मण खुद भी प्रभावित हुए; अब तक, ब्राह्मणवादी रूढ़िवाद की बुनियाद को पूरी तरह से नकार दिया गया था, और जो लोग नए और सच्चे सिद्धांत का दावा करते थे, उनके प्रचारक कई तरफ से उठ खड़े हुए। इस क्रांतिकारी आंदोलन ने कई चरण धारण किए। कुछ हलकों में, ब्राह्मणवादी और गैर-ब्राह्मणवादी, यह चार्वाक के नाम से जुड़े एक मोटे नास्तिक भौतिकवाद के रूप में सामने आया।'[4]

बार्नेट की उपरोक्त टिप्पणी स्पष्ट संकेत देती है कि सबसे पहले आजीवकों का विरोध उपनिषदों में मिलता है जो ब्राह्मणवादी कर्मकांड और इसके रूढ़िवाद लिए खतरा बनता है। यह क्रांतिकारी आंदोलन कई चरणों में हुआ और चार्वाक के नाम से जुड़े एक मोटे नास्तिक भौतिकवाद के रूप में सामने आया। गौरतलब है, चार्वाक अपने समय का इकलौता नास्तिक धर्म-दर्शन था; और नास्तिकता का पैमाना वेदों, जिसे बार्नेट के अनुसार 'अज्ञानी लोगों के उपयोग के लिए बरकरार रखा', को न मानना और वेदों की निंदा करना था। यदि यह कहा जाए कि चार्वाक यानी आजीवक का विरोध उपनिषदों से भी पहले का है तो इसे गलत नहीं ठहराया जाना चाहिए। इस कड़ी में ए. एल. बाशम आजीवकवाद के उदय पर और रोशनी डालते प्रतीत होते है, जब वे कहते हैं-'प्राचीन भारत में दार्शनिक चिंतन की सीमा हिंदू धर्म की विभिन्न शाखाओं द्वारा निर्धारित सीमाओं से परे थी, और यहां तक कि बौद्ध धर्म और जैन धर्म के महान विधर्मी संप्रदायों द्वारा निर्धारित सीमाओं से भी परे थी। पूर्ण भौतिकवादी समूहों, चार्वाक या लोकायत की उपस्थिति, जो आत्मा, देवताओं और भविष्य के जीवन के अस्तित्व को नकारते थे, बहुत प्रसिद्ध है।'[5] स्पष्ट है कि आजीवकवाद का हिंदू धर्म से टकराव बुद्ध और महावीर से भी पुराना है। मौजूदा संदर्भ में इस हकीकत से इनकार नहीं किया जा सकता कि जैन, बौद्ध और आजीवक संप्रदाय का उदय हिंदू धर्म के विरोध में हुआ था। बहुत संभव है कि यह पुराना टकराव आजीवकवाद की अपेक्षा चार्वाक/लोकायत नाम से मौजूद रहा हो।

बाशम आगे बताते हैं-'ऐसे कई शिक्षकों (जो हिंदूवाद के प्रतिरोध में थे) ने अनुयायियों के समूहों को इकट्ठा किया और संघों की स्थापना की, शायद कुछ मामलों में एक दूसरे से शिथिल रूप से जुड़े हुए थे; और इनमें से कुछ से आजीवकवाद विकसित हुआ-जो अपने संस्थापक की मृत्यु के लगभग दो हजार वर्षों तक जीवित रहा।'[6] इस टिप्पणी से साफ है कि पहले समूहों और संघों (जो आपस में थोड़ा कम सक्रिय रूप से जड़े थे) की तुलना में मक्खलि गोसाल के नेतृत्व में उनका संघ अपनी गतिविधियों के कारण काफी सक्रिय हो गया हो, जिसके चलते 'आजीवक' और 'आजीवकवाद' जैसे पद चर्चा के केंद्र आ गए। इसका मतलब यह नहीं हो जाता कि आजीवकवाद की शुरुआत या आजीवकवाद के जनक मक्खलि गोसाल हैं, जो महावीर और बुद्ध के लगभग समकालीन (छठी सदी ई.पू.) हैं। इस संबंध में विकास दिव्यकीर्ति की टिप्पणी-श्रमण यानी सीकर्स, जो वेदों से असंतुष्ट थे (यानी वेदों की आलोचना करते थे) , उनकी संस्थाओं (आंदोलन-कारी) की संख्या 63 थी।[7] काबिल-ए-गौर है।

बहुत संभव है कि गोसाल को आजीवक संप्रदाय का संस्थापक बनाना यानी लोकायत/चार्वाक को आजीवक

''ऐसे कई शिक्षकों; जो हिंदूवाद के प्रतिरोध में थे, ने अनुयायियों के समूहों को इकट्ठा किया और संघों की स्थापना की, शायद कुछ मामलों में एक-दूसरे से शिथिल रूप से जुड़े हुए थे और इनमें से कुछ से आजीवकवाद विकसित हुआ-जो अपने संस्थापक की मृत्यु के लगभग दो हजार वर्षों तक जीवित रहा।''

से अलगाना, उसी साजिश का हिस्सा हो सकता है, जिस साजिश के तहत इस संस्कृति के साहित्य को प्रक्षिप्त किया गया, जलाया गया और अंततः विलुप्त करने का प्रयास किया गया।ऐसा भी नहीं है कि यह प्रक्षिप्तिकरण प्राचीन काल तक सीमित था। कबीर-रैदास के साथ भी अनेक प्रकार के किस्से कहानियां इसी प्रकार के प्रक्षिप्तिकरण का परिणाम हैं। आज पाठ्यक्रमों में अनेक प्रकार के बदलाव, नेताओं के भाषणों में इतिहास के संबंध में ऊल-जुलूल, शरारतपूर्ण व गैर-जिम्मेदाराना बयानबाजी भी इसी श्रेणी में आते हैं। शहरों और सड़कों के नाम बदलना आदि भी कमोबेश इसी प्रक्षिप्तिकरण का हिस्सा हैं। विश्वसनीयता की परख के लिए पुनः बाशम की पुस्तक में उपलब्ध टिप्पणी काबिल-ए-गौर है-'धार्मिक सुधारक शायद ही कभी किसी पुराने विश्वास के आधार के बिना अपने नए विश्वास के केंद्रीय सिद्धांतों को तैयार करता है, जिस पर निर्माण किया जा सके; इसके बजाय वह पहले की शिक्षाओं को दोहराता है, संशोधित करता है, या उन पर नया प्रकाश डालता है, और यह दोहराना उसके समकालीनों के लिए एक नए रहस्योद्घाटन की ताकत और नवीनता है।'[8] कहा जा सकता है कि चार्वाक और हिंदू धर्म के आपसी संघर्ष के परिणामस्वरूप ही बुद्ध का धम्म और महावीर का जैन धर्म अस्तित्व में आया। इन्होंने अपने-अपने धर्म-दर्शन की बुनियाद एकदम नए सिरे से नहीं रखी। धर्म के संबंध जो आपसी टकराव की परिस्थितियां थी, उन्हीं को संशोधित कर नए धर्म की स्थापना की। इन दोनों धर्मों के संस्थापकों द्वारा चार्वाक/आजीवक का विरोध और प्रतिद्वंद्विता इसी का परिणाम हो सकता है। विकास दिव्यकीर्ति इस हकीकत को पुख्ता करते नजर आते हैं, जब वे टिप्पणी करते है-'बौद्ध, महावीर और अद्वैत सभी चार्वाक निंदक थे। कहावत है कि हम अपने मामले में अच्छे वकील और दूसरों के मामलों में अच्छे जज होते हैं।'[9] मौजूदा संदर्भ में हिंदुत्ववादियों की तरह बौद्ध और जैन भी अपने मामले में अच्छे वकील और आजीवकों के मामले में अच्छे जज बने बैठे हैं। ये दिल खोलकर आजीवकों की आलोचना/निंदा करने में एक दूसरे से पीछे नहीं हैं।

हम जानते हैं कि मौजूदा विवाद का कोई अंत नहीं है, इसलिए आगे बढ़ते हैं। हम यह भी अच्छे से जानते है कि भौतिकवादी दार्शनिकों यानी आजीवकों का जिन आर्यों के विरुद्ध क्रांतिकारी आंदोलन था, वे तो आज भी अपने वेदों, आत्मा, परमात्मा, पुनर्जन्म, पूर्वजन्म आदि अवधारणाओं और मान्यताओं के साथ के साथ हिंदू, हिंदुत्व, सनातनी और न जाने कितनी प्रकार की जातिवादी व वर्चस्ववादी पहचान के साथ मौजूद हैं। लेकिन दीगर सवाल है-चार्वाक/लोकायत यानी आजीवक कौन थे और अब वे कहां है? यह सवाल बहुत ही पेचीदा है और विस्तृत विचार की मांग करता है। इस पेचीदगी को समझने के लिए पहले डा. धर्मवीर से रूबरू होते हैं, उनके अनुसार-'मौर्य साम्राज्य में भी आजीवक धर्म का दबदबा रहा था। चंद्रगुप्त मौर्य बाद में जैन हो गए थे, पर उनके बेटे बिन्दुसार आजीवक ही रहे थे। बिन्दुसार के बेटे अशोक, आजीवक माता-पिता की सन्तान थे। अशोक आजीवक भी रहे और बाद में बौद्ध की तरफ झुक गए। कहने का तात्पर्य यह है कि मौर्य साम्राज्य का कोई सम्राट ब्राह्मण धर्म का अनुयायी नहीं रहा। तब मौर्य को भी शूद्र कहना उचित नहीं है-इसका मतलब केवल यह है कि अवर्ण आजीवक समाज का विरोधी खेमों की चतुर्वर्ण समाज व्यवस्थाओं से महायुद्ध चल रहा है। इस बारे में इसके सिवा कुछ और न समझा जाए कि पूरा और एकजुट आजीवक समाज, वर्ण व्यवस्थाओं के चारों वर्णों- ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र-से लड़ रहा है। इस का मतलब यह भी है कि आजीवक समाज के लिए-ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चारों शब्द विदेशी उच्चारण और बाहरी मूल के हैं।'[10]

हम जानते हैं कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, ये चारों वर्णव्यवस्था के आधार स्तंभ हैं; और वर्णव्यवस्था में हिंदू यानी सनातनियों जान बसती है। ये वर्ण और जातियों के समूह हैं। बानगी के रूप में इस वर्ण और जाति के खेल को 1921-1922 में गुजराती के 'नव जीवन' अखबार में व्यक्त गांधी जी यानी राष्ट्रपिता के विचार के माध्यम से समझते हैं-'मेरे विचार से अब तक हिंदू समाज अपनी जाति प्रथा के कारण जीवित है। जाति प्रथा में स्वराज के बीज मौजूद हैं। जाति प्रणाली विकसित करने वाले समाज में आश्चर्यजनक संगठन क्षमता होती है। जातियों के माध्यम से ही प्राथमिक शिक्षा का प्रसार होता है। एकता के लिए अंतर्जातीय विवाह की अनुमति न देने से ही इसे बुरा नहीं माना जा सकता। नियंत्रित व मर्यादित जीवन का दूसरा नाम जाति

प्रथा है। जाति को नष्ट करने का अर्थ पैतृक पेशों को नष्ट करना होगा। अपने पैतृक पेशे छोड़कर यदि ब्राह्मण शुद्ध और शूद्र ब्राह्मण बनने लगेंगे तो समाज का काम ही ठप्प हो जाएगा। जाति प्रथा एक प्राकृतिक विधान है।'[11]

डा. धर्मवीर अपनी टिप्पणी के माध्यम से बता रहे हैं कि चतुर्वर्ण व्यवस्था से जो बाहर हैं, वे आजीवक है। स्पष्ट है, इन्हें सरकारी भाषा में अनुसूचित जाति-जनजाति कहा जाता है और आम बोलचाल की भाषा में ये खुद को दलित कहते हैं। लेकिन डा. धर्मवीर उन दलितों से बेहद खफा हैं जो धर्मांतरण कर बुद्धिज्म या अन्य धर्मो को अपना रहे हैं। वे टिप्पणी करते हैं-'आज दलित लोग अपनी पहचान खोने के लिए लड़ रहे हैं जबकि अन्यत्र संसार में लोग अपनी पहचान बनाए रखने के लिए लड़ते हैं। बिल्कुल कहा जा सकता है कि जो समाज अपनी पहचान खोने के लिए लड़ता है वह कभी जीत नहीं सकता। किसी भी धर्मान्तरण में दलित समाज अपनी पहचान ही खोता है।'[12]

सवाल है-अपनी पहचान खोने के लिए कौन लड़ता है? इसके जवाब में बशीर बद्र का शेर-कुछ तो मजबूरियां रही होंगी यूं कोई बेवफा नहीं होता, काफी हद तक सटीक बैठता है। ये मजबूरियां ही तो हैं, जो इतिहास का आजीवक अपनी सम्मानजनक अस्मिता की तलाश में आज भी कभी मुसलमान, तो कभी ईसाई; कभी सिख, तो कभी बौद्ध; और न जाने कितने तथाकथित अस्मितामूलक संप्रदायों और धर्मगुरुओं की चौखट पर माथा रगड़ रहा है, लेकिन उसकी अस्मितामूलक पहचान की यात्रा खत्म होने का नाम ही नहीं लेती। इसी कदम ताल के चलते आज इस देश का मूलनिवासी सैंधव यानी आजीवक संभवतः उससे भी बद्तर हालत में है, जो इस संस्कृति के विनाशकों ने चाहा था। भले ही आज संविधान का शासन है, लेकिन आजीवक संस्कृति के संवाहकों के विरुद्ध, सिंधु घाटी की सभ्यता से शुरु हुई जंग आज भी विभिन्न मुखौटों की आड़ में बराबर जारी है। इतिहास का आर्य जो पहले घुसपैठिया था, आज वह स्वामी है और पहले से अधिक ताकतवर हो गया है; क्योंकि आज सत्ता, शासन-प्रशासन, प्रचार तंत्र सब उसके नियंत्रण में हैं; और तथाकथित न्याय भी उसकी चौखट पर हाजिरी देकर ही आगे बढ़ता है। साहित्य और इतिहास उसके घर के दास बनकर रह गए हैं; इसलिए इतिहास के चार्वाक/लोकायत संस्कृति के संवाहक आजीवक के अवशेष मिलना भी दुर्लभ हो रहा है। परिणामस्वरूप, आजीवक खुद अपनी संस्कृति का नाम तक भूल गए हैं। आज ये जातियों की जंग में उलझ कर रह गए हैं। कभी ये जाति उन्मूलन की बात करते हैं तो कभी जातियां मजबूत करने की। ऐसे विवादों का न आदि है और न अंत; बस एक अजीब-सा जुनून है, जिसने आजीवकों को सुकून छीन लिया है।

इस सब के बावजूद, इसी इतिहास, जिसकी विश्वसनीयता के विषय में डा. अम्बेडकर, डब्लू एण्ड एस के हवाले से बताते हैं-'प्राचीन इतिहास मूलतः कोई इतिहास ही नहीं है। उस प्राचीन भारत का कोई एक इतिहास नहीं है। इसके बहुत सारे इतिहास हैं। लेकिन ये अपना चरित्र खो चुके हैं। इसे महिलाओं और बच्चों के मनोरंजन का साधन मात्र बना दिया गया।'[13] लेकिन हमारे पास दूसरा विकल्प नहीं है, इसलिए हम मानते है कि इतिहास में जैसे भी उपलब्ध अवशेष हैं, हमें उन्हीं से तलाश करना है-आजीवक कौन थे? इस कड़ी में सबसे पहले हम इतिहासकार कश्यप की टिप्पणी का उल्लेख करना चाहते हैं। इसके अनुसार-'अनार्य दुर्गों और नगरों में रहते थे। आर्यों ने उनका उन्मूलन किया, उनके दुर्गों और पुरों का विध्वंस करके अनार्यो को दक्षिण के पर्वतों की ओर ढकेल दिया। कहा जाता है कि उनमें से बहुतों ने पर्वतों में शरण ली और उनमें से बहुतेरे गोंड, खांड, कोल, भील, संथाल, औराव, भुण्डादि उन्हीं के वंशज हैं। उनमें से बहुत से पकड़ लिए गए और दास घोषित कर दिए गए। इन्हीं में से आज हिंदुओं की वर्ण व्यवस्था के अंतिम स्तर के शूद्र हैं।'[14] जो बात कश्यप कह रहे हैं, आदिवासियों के बारे में ठीक ऐसे ही निष्कर्ष, सुप्रीम कोर्ट के पूर्व जज मार्कंडे काटजू 'द वायर' के यू-ट्यब चेनल पर 16 नवम्बर 2024 अपने साक्षात्कार में, साक्षात्कारकर्ता जाने माने वकील कपिल सिब्बल के समक्ष पेश करते हैं।

गौरतलब है कि उपरोक्त टिप्पणी में अंतिम स्तर के शूद्र का सीधा-सा संबंध हिंदूवादी वर्णव्यवस्था से बाहर मौजूदा दलितों से है। कोसम्बी के अनुसार-'इस सिलसिले में निश्चित ही लिखित सामग्री और पुरातत्व खोज से मिलने वाली जानकारी दोनों एक-दूसरे से मेल खाती हैं। इसलिए विश्वास करने के कई आधार हैं कि कम से कम कुछ बातों में 'असुर' शब्द का

अर्थ था–सिंधु घाटी की स्थापना करने वाले।'[15] यहां कोसम्बी स्पष्ट करते हैं कि सिंधु घाटी के वारिसों को 'असुर' कहा गया। 'असुर' यानी दलितों को अपमानित करने के लिए प्रयोग की जाने वाली अनेक संघाओं में से 'एक संघा'। कहने की जरूरत नहीं कि अंतिम स्तर के शूद्र, दास, दस्यु, दलित, हरिजन, चाण्डाल, अस्पृश्य, अनार्य, असुर आदि वे अपमानजनक अलंकरण हैं जो इस देश के सभ्य और सुसंस्कृत समाज के द्वारा इस देश के मूलनिवासी सैंधव/चार्वाक/लोकायत यानी आजीवकों के लिए प्रयोग में लाए जाते हैं।

इस हकीकत को विश्वसनीयता की कसौटी पर परखने के लिए कंवल भारती, जिन्होंने आजीवक पर एक पुस्तक भी लिखी है, की टिप्पणी से रूबरू होना अनिवार्य महसूस हो रहा है, इसके अनुसार–'आर्य जब भारत में आए, तो विचार के स्तर पर उनका संघर्ष लोकायत से हुआ। आर्यों द्वारा अनार्यों को दास, दस्यु कहकर अपमानित करना और भारी संख्या में उनको मौत के घाट उतारना आकस्मिक नहीं था। उसके मूल में संस्कृति विरोध ही था। ऋग्वेद की एक ऋचा इसकी साक्षी है, जिसमें कहा गया है–अकर्मा दस्युरयिनो अमंतुन्यव्रती: अमानुषा:।, तस्या मित्रहन्वध दसिस्य दंभय।। (ऋग्वेद 10-22-8) 'अर्थात हम चारों ओर दस्यु जाति से घिरे हैं। ये यज्ञ नहीं करते, उनके कर्मकाण्ड भिन्न हैं, वे मनुष्य नहीं हैं। हे शत्रुहंता, उन्हें मारो। दस्यु जाति का विनाश करो।'[16] इस मारने और विनाश करने की इंटेंसिटी को इतिहासकार डा. दीनानाथ के शब्दों में समझें अगर, तो तस्वीर कुछ इस प्रकार की बनती

''आर्यों ने जिस सभ्यता/संस्कृति यानी सिंधु सभ्यता पर आक्रमण किया था, वे लोकायत/चार्वाक यानी अनार्य, दास, दस्यु आदि सभी आजीवक संस्कृति के संवाहक हैं। यही वे लोग हैं जिन्हें ऋग्वेद में यज्ञ न करने वाले, अलग कर्मकांड करने वाले हैं, कहा गया।''

है–'कुछ लोगों का अनुमान है कि बार-बार आग लगने से यह सभ्यता बरबाद हो गई। सिंधु की खुदाई की राख की एक-दूसरे के बाद सात तह मिली हैं। इससे अनुमान किया जा सकता है कि सिंधु घाटी के नगर सात बार बसे और सात बार उजड़े। इसी लिए मोहनजोदड़ो को 'मुर्दों का टीला' भी कहा जाता है।'[17]

कंवल भारती की उपरोक्त टिप्पणी से हम इस निष्कर्ष पर पहुंच सकते हैं कि आर्यों ने जिस सभ्यता/संस्कृति यानी सिंधु सभ्यता पर आक्रमण किया था, वे लोकायत/चार्वाक यानी अनार्य, दास, दस्यु आदि सभी आजीवक संस्कृति के संवाहक हैं। यही वे लोग हैं जिन्हें ऋग्वेद में यज्ञ न करने वाले, अलग कर्मकांड करने वाले हैं, जो मनुष्य नहीं हैं, कहा गया है और इनका विनाश (सिंधु घाटी के नगरों का सात बार तक उजड़ना या उजाड़ा जाना) करने का आह्वान किया गया है। सत्य के परीक्षण की इस यात्रा में हम एम. व्हीलर की टिप्पणी का उल्लेख करना जरूरी समझते हैं, इसके अनुसार–'मौजूदा दलित, अस्पृश्य, आदिवासी आदि ही सिंधु घाटी के मूलनिवासी हैं जिनका विनाश आर्यों ने किया था।... 'आज के विद्वान ऋग्वेद में उल्लेखित हरियूपिया को सिंधु घाटी का हड़प्पा नामक स्थान मानना चाहते हैं।'[18] यद्यपि वर्तमान अनुसूचित जाति-जनजाति के मूलनिवासी यानी आजीवक होने के और भी अनेक प्रमाण उपलब्ध हैं, हमें लगता है कि उपरोक्त प्रमाण ही पर्याप्त हैं, वरना विषयांतर का खतरा पैदा हो जाएगा।

अब हम आजीवक संस्कृति की कुछ परिचयात्मक प्रमुख विशेषताओं पर बात करते हैं जिनकी वजह से आजीवक संस्कृति को विलुप्तिकरण का शिकार होना पड़ा। इस संदर्भ में हम शुरू से ही रेखांकित करके चलना अनिवार्य समझते हैं कि हम इस संस्कृति पर चर्चा इस नजरिए से कर रहे हैं कि 'यह वर्तमान की चुनौतियों का सामना करने में हमारी किस प्रकार मदद कर सकती है।' यह कैसे एक तर्क-विवेक व वैज्ञानिक टेंपरामेंट, जिसकी वर्तमान समाज को नितांत आवश्यकता है, को हमारे जीवन का अंग बनाने में सहायक हो सकती है। कैसे यह अंधी आस्था के अंधकार में दीपक बनकर हमारे जीवन में उजाला ला सकती है; और कैसे यह समाज और देश ही नहीं, बल्कि मानवता के विकास में अहम् भूमिका अदा कर सकती है।

इस कड़ी में हमारा आग्रह है कि जहां भी चार्वाक/लोकायत शब्द का प्रयोग है, उसे आजीवक और उसकी संस्कृति के रूप में ही समझा जाए; क्योंकि जैसाकि पहले उल्लेख किया गया है कि लोकायत-सिद्धांत अनुगामी

''भगवती सूत्र के हिंदी भाष्यकार आचार्य महाप्रज्ञ ने लिखा है-'उस युग में भी जब स्वयं तीर्थंकर विद्यमान थे, गोशालक जैसा पाखण्डी व्यक्ति अधिक लोकप्रिय बन गया था। भगवान् महावीर के अनुयायियों की संख्या केवल एक लाख उनसठ हजार थी, जबकि गोशालक के अनुयायी ग्यारह लाख इकसठ हजार थे।''

जन ही 'आजीवक' है। शरीर और आत्मा अलग नहीं, एक ही है। शरीर के सदुपयोग, स्वास्थ्य और श्रमात्मक आजीविका ही आजीवक नाम से पुकारे जाने का प्रमाण है। इसमें जन-जीवन से घनिष्ठता रखने वाले कृषि, पशुपालन, वाणिज्य आदि, राजनीति-स्वरूप दण्डनीति और स्वास्थ्यप्रद आयुर्वेद, इन तीनों से पूर्ण रूप से सम्बद्ध रहे हैं।' आजीवक संस्कृति की यह तस्वीर कुछ अधूरी लगती है। हमें लगता है कि डा. दीनानाथ वर्मा इसे पूरा करने में सहायक हो सकते हैं, उनके अनुसार–'सिंधु घाटी सभ्यता क्षेत्र में खुदाई से जो वस्तुएं प्राप्त हुई हैं, उनसे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि यह सभ्यता शांति प्रधान सभ्यता थी और इसका विकास अत्यंत शांतिमय वातावरण में हुआ था। बड़े मार्के की बात है कि उत्खनन में कवच, ढाल, तलवार, शिरस्त्राण आदि युद्धोपयोगी सामान नहीं मिले हैं। यहां धनुष-बाण, कुल्हाड़ी, माला आदि आखेटीय प्रवृत्ति के द्योतक हो सकते हैं ...अन्य प्राचीन सभ्यताओं की अपेक्षा सैंधव सभ्यता का नैतिक स्तर ऊंचा था और वहां के निवासी वाणिज्य, व्यापार, कला कौशल की उन्नति पर अपने देश को सुखी और समृद्ध बनाना चाहते थे ।'[19]

उपरोक्त सभी कार्यों का संपादन स्वस्थ शरीर द्वारा ही संभव है, इसलिए शरीर आजीवकों की सर्वोच्च प्राथमिकता रही है। इस लिए इनके विषय में कहा गया है-*यावत जीवेत, सुखम जीवेत, ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत।भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुत:।।* इस कथन को लेकर आजीवकों के निंदकों द्वारा इनकी निंदा की यही वजह है कि आजीवक संस्कृति के अनुयायी आम आदमियों की तरह श्रम आधारित आजीविका के संवाहक थे। वे किसान, कारीगर थे, व्यापारी सब थे और इसी तरह के अन्य लोग थे। यदि एक वाक्य में कहा जाए तो 'क्या आम और क्या खास, आजीवक संस्कृति में सभी श्रम आधारित आजीविका का निर्वहन करते थे'। यह इनकी संस्कृति को खास बनाती है, क्योंकि इसमें शारीरिक श्रम का भरपूर सम्मान रहा है, लेकिन अपने यहां आज स्थिति इसके एकदम उलट है। श्रम आधारित आजीविका को हेय दृष्टि से देखा जाता है और पारिश्रमिक भी बहुत मामूली दिया जाता है। इस कड़ी में थोड़ा और आगे बढ़ते हैं–'उनकी संख्या भी बौद्धों से ज्यादा थी। कारण यही था कि आजीवकों द्वारा समाज सुधार पर अत्यधिक बल दिया जाता था। बौद्ध लोग मक्खलि गोसाल की आलोचना किया करते थे। समय-समय पर आजीवकों और बौद्धों के बीच खुली मुठभेड़ हुआ करती थी।'[20] इस कड़ी में भगवती सूत्र के हिंदी भाष्यकार आचार्य महाप्रज्ञ ने लिखा है–...'उस युग में भी जब स्वयं तीर्थंकर विद्यमान थे, गोशालक जैसा पाखण्डी व्यक्ति अधिक लोकप्रिय बन गया था। भगवान् महावीर के अनुयायियों की संख्या केवल एक लाख उनसठ हजार थी, जबकि गोशालक के अनुयायी ग्यारह लाख इकसठ हजार थे।'[21] गौरतलब है, यह लोकप्रियता हवा में नहीं होती, लोकप्रियता के लिए ठोस आधार होता है; जाहिर है, आजीवकों के आधार के ठोस होने के प्रमाण रहे हैं, तभी यह लोकप्रिय था। यह पूर्वाग्रह नहीं तो क्या है कि गोशालक को पाखंडी कहा जा रहा है।

हम जानते हैं कि इनकी तर्क-विवेक के आधार पर वेद निंदा करने के कारण आजीवकों को पाखंडी कह कर मजाक उड़ाया जाता है। इन्हें गैर-जिम्मेदार और इनकी दुनिया सिर्फ खाने-पीने तक सीमित बताई जाती है। लेकिन हम यह मानते हैं कि उस समय उत्तम स्वास्थ्य के लिए घी सर्वोत्तम आहार रहा होगा। संभवत: इसी गरज से आजीवक संस्कृति में ऋण लेकर भी घी पीने की बात कही गई है। यदि ऋण लेकर भी उत्तम स्वास्थ्य अर्जित किया जाता है और स्वास्थ्य को बरकरार रखा जाता है, तो इससे बेहतर और क्या हो सकता है। क्योंकि स्वस्थ्य शरीर के माध्यम से जीवन के सारे क्रियाकलाप संभव हैं; और शरीर की बदौलत ही परिश्रम करके कोई भी ऋण चुकाया जा सकता है। कह सकते हैं कि शारीरिक स्वास्थ्य के दम पर ही मानसिक और सामाजिक जीवन का आनंद लिया जा सकता है। यही इनके सुख का आधार है। यह भौतिक सुखों तक सीमित नहीं होता, बल्कि इसकी

अंतिम परिणति मानसिक सुख और सुकून में होती है, जिसे परमानंद कहते हैं। आजीवक संस्कृति में शरीर और स्वास्थ्य की प्राथमिकता को समझने के लिए एक कहावत का उल्लेख जरूरी महसूस हो रहा है। इसके अनुसार-यदि धन की क्षति हुई है, तो कोई क्षति नहीं हुई है, अगर स्वास्थ्य की क्षति हुई है, तो कुछ की क्षति हुई है और यदि चारित्रिक क्षति हुई है, तो सब कुछ की क्षति हुई है। ऐसा लगता है कि यह कहावत आजीवक संस्कृति की बदौलत ही अस्तित्व में आई है।

दूसरे, आजीवकों का यह मानना कि इस नश्वर शरीर के नष्ट हो जाने के बाद यानी उसके राख बन जाने के बाद कुछ हासिल होने वाला नहीं है; क्योंकि शरीर के अस्तित्व में आने के लिए जरूरी चारों तत्व अग्नि, वायु, जल और पृथ्वी अपने-अपने मूल स्त्रोत में मिल जाते हैं। इसी लिए आजीवक संसार को किसी ईश्वर द्वारा निर्मित नहीं मानते। हम कह सकते हैं कि पृथ्वी और पृथ्वी पर जो कुछ भी मौजूद है, उसके अस्तित्व में आने के पीछे चार्ल्स डार्विन की इवोल्यूशन की थ्यौरी सबसे अधिक स्वीकार्य है; और आजीवक संस्कृति मोटा-मोटी इस थ्यौरी के करीब नजर आती है (यहां इस विषय पर इरादतन संकेत मात्र दिया जा रहा है)। दूसरे, आजीवक संस्कृति में दूसरा जन्म नहीं है। यही जन्म सब कुछ है और मृत्यु ही मोक्ष है। जीवन में सुख ही स्वर्ग है और दुख ही नरक। इसे राहुल सांकृत्यायन के शब्दों में कुछ प्रकार समझा जा सकता है-'प्राचीन चार्वाक-ईश्वर नहीं, आत्मा नहीं, पुनर्जन्म नहीं और परलोक नहीं। जीवन के भोग त्याज्य नहीं, ग्राह्य हैं। तजुर्बे (अनुभव) और बुद्धि को हमें सत्य के अन्वेषण के लिए अपना मार्गदर्शक बनाना चाहिए।'[22] इसे डा. धर्मवीर के शब्दों कुछ प्रकार समझा जा सकता है-'आजीवक के विषय में 'पहला सूत्र है-नो धम्मो श्त्ति। उनका दूसरा सूत्र है-नो तवो श्त्ति। उनका तीसरा सूत्र है-नत्थि पुरिस्कारे। कोई ऐसा धर्म नहीं है जो तुम्हें मरने के बाद अमुक योनि में पैदा कर देगा; कोई ऐसा तप नहीं अमुक योनि में पैदा कर देगा; कोई ऐसा पुरस्कार नहीं है जो तुम्हें मरने के बाद पुनर्जन्म के रूप में मिलने वाला।'[23]

जाहिर है, शारीरिक श्रम आजीवकों के यहां काम एकैव: पुरुषार्थ की अव-धारणा के चलते व्यक्ति द्वारा किए गए कार्य ही जीवन में सुखों को सुनिश्चित कर सकते हैं। आजीवकों को अकर्मण्यवादी और भाग्यवादी कहने वालों की समझ दुरुस्त करने के लिए आजीवक संस्कृति के काम रूपी सर्वोच्च पुरुषार्थ को डा. हरिपाद चक्रबर्ती से समझते हैं। उनके अनुसार-'बौद्ध ग्रंथों से प्रमाण दिए गए हैं कि राजगृह के पाण्डु पुत्र नाम के आजीवक साधु एक रथ निर्माता के पुत्र थे। जब उसने एक गाड़ी-निर्माता के काम का कमाल देखा तो वह खुशी में जोर-जोर से चिल्लाया था। कुछ आजीवक भविष्य वक्ताओं का काम करते थे। जनसान नाम आजीवक साधु राजा बिंदुसार का दरबारी था। इन उदाहरणों से मालूम होता है कि आजीवक साधु भीख पर निर्भर नहीं थे, बल्कि वे अपने जीवन में विभिन्न सामाजिक पेशों से जुड़े हुए होते थे।'[24] इस टिप्पणी में 'भविष्य वक्ता' का जिक्र आया है, यह आजीवक संस्कृति से मेल नहीं खाता है; क्योंकि इनका सब कुछ आज पर और अनुभवजन्य निष्कर्षों पर आधारित होता है, तो भविष्य वक्ता होने का प्रश्न ही पैदा नहीं होता, खैर...।

तस्वीर को और अधिक साफ करने के लिए पुनः डा. हरिपाद चक्रबर्ती को बीच में लाते हैं। उनके अनुसार-'आजीविय' का उस व्यक्ति से संबंध है जो अपनी जीविका के लिए कुछ नियमों का पालन करता है। उन्होंने बौद्धों के अष्टांगिक मार्ग में आए हुए शब्द 'सम्यक आजीव' की याद दिलाई है। लेकिन वहां यह आजीवकों से चुराया हुआ शब्द है। चक्रबर्ती ने यह संभावना जरूर जताई है कि पहले समय से ही कुछ साधु ऐसे होते थे जो जीविका के लिए पेशों को अपनाए रहते थे। मक्खलि गोसाल से जुड़े 'मंखत्व' के बारे में उन्होंने माना है कि यह चित्र प्रदर्शन का पेशा था और मक्खलि के पिता इसी पेशे को अपनाए हुए थे। बाण के 'हर्ष चरितम्' में 'यम पटिटका' का होना भी यही दर्शाता है। इसलिए यह संभव है कि आजीवक साधु भीख मांगने के बजाय चित्र प्रदर्शन के पेशे को अपनाए रहते थे।'[25]

आजीवकों में बिना किसी स्तरीकरण के 'काम/कार्य' की प्राथमिकता है। उनके यहां काम के बंटवारे के लिए न किसी वर्णव्यवस्था की जरूरत थी और न ही किसी जाति प्रथा की, लेकिन आज वर्ण और जाति प्रथा वर्तमान भारतीय समाज का ऐसा कोढ़ है, जिसका कोई इलाज यदि संभव है तो वह आजीवक संस्कृति में ही संभव है। आजीवक संस्कृति में वर्ण व्यवस्था और जाति प्रथा की स्थिति समझने के लिए

जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश की मदद ली जा सकती है। इसके अनुसार–'सवाल है कि मक्खलि गोसाल आचार्यों और उपाध्यायों को अवर्णवादी क्यों बना रहे थे। उत्तर यह है कि आचार्य और उपाध्याय अपने आपको वर्णवादी घोषित कर रहे थे। यह आचार्यों और उपाध्यायों का घमंड था जो उनके वर्ण के रूप बोलता था। मक्खलि गोसाल ने उन के इसी घमंड पर चोट की थी।... जैनेन्द्र सिद्धांत कोश के अनुसार अवर्णवाद की परिभाषा–'गुण वाले बड़े पुरुषों में जो दोष नहीं हैं उनका उनमें उद्‌भावन करना अवर्णवाद है।'– ग्रंथ 'राज वार्तिकश को उद्धृत करते हुए लिखा गया है–'ये श्रमण शूद्र हैं–इत्यादि संघ का अवर्णवाद है।'[26] रामप्रताप त्रिपाठी शास्त्री इसे और स्पष्ट करते हुए बताते हैं–जो अधार्मिक जन हैं वर्णाश्रम की मर्यादा से वहिर्भूत (बाहर)हैं, वर्णसंकर हैं, कारीगरी या शिल्पकर्म करने वाले हैं, देवताओं ने उनको ही इन पिशाचों की आजीविका बनाई है'[27]

ए एल बाशम इस कोढ़ को उदाहरण देकर स्पष्ट करते हैं-'गोशाल ने अपने मुख्यालय में कुम्हार की कार्यशाला का उपयोग किया होगा, और बर्तनों का उपयोग आजीवक तपस्या में किया जाता था, 'ये दोनों मिलकर यह संकेत देते हैं कि यह संप्रदाय किसी तरह से कुम्हार जाति से विशेष रूप से जुड़ा हुआ था, और अपने सदस्यों को विशेष रूप से आकर्षित करता था।'[28] हमें लगता है कि यहां 'कुम्हार' जाति का परिचायक नहीं, बल्कि व्यवसाय का परिचायक है। डा. हरिपाद चक्रबर्ती आजीवक संस्कृति के गरिमामय इतिहास को कुछ इस प्रकार आगे बढ़ाते हैं-'गौरतलब है कि आजीवक धर्म के दरवाजे बिना जाति और लिंग का भेद किए कमाने वाले सभी पेशों के लोगों के लिए समान रूप से खुले हुए थे। उदाहरण के लिए बिम्बिसार के एक संबंधी आजीवक मत के अनुयायी हो गए थे। इस धर्म में औद्योगिक और व्यापारिक वर्ग के लोग बहुतायत में जुड़े थे। हालाहला नाम की स्त्री जिन्होंने गोसाल के साथ 16 वर्ष गुजारे, एक कुम्हारी थीं। सद्दाल पुत्र भी कुम्हार थे। उन्होंने पोलासपुर में आजीवक संघ की सभा आयोजित की थी। लगता है, इस धर्म का कुम्हारों से विशेष संबंध था।'[29]

विश्लेषण की इस प्रक्रिया में जाति, धर्म और वर्ण से आगे यह देखना जरूरी हो जाता है–आजीवक संस्कृति में लिंग भेद की स्थिति क्या थी, कैसी थी? हम पाते हैं कि आजीवक संस्कृति में रामचरित मानस के सुंदर कांड में मौजूद 'ढोल, गंवार, शूद्र, पशु, नारी, सकल ताड़ना के अधिकारी' जैसी अव–धारणा नहीं है। यहां स्त्री की मान–मर्यादा व गरिमा मौजूद है। इसे डा. हरिपाद चक्रबर्ती की टिप्पणी से समझते हैं–'किसी भी धार्मिक मामले में स्त्री का महत्व कम नहीं है। आजीवक धर्म में स्त्री पाप योनि नहीं है। वे नहीं मानते कि स्त्री के संसर्ग से पाप की सृष्टि होती है। विरोधियों के द्वारा की गई आलोचना से पता चलता है कि गोसाल के अनुयायियों को स्त्रियों का गुलाम कहा गया है।'[30] डा. हरिपाद चक्रबर्ती स्त्री के धार्मिक मामले तक सीमित न रहकर वे इसे जीवन की साधना से जोड़ते हुए टिप्पणी करते हैं–'आजीवक धर्म की एक बड़ी विशेषता यह है कि इसमें स्त्री को छोड़ कर जीवन की साधना नहीं होती। यही नहीं, इस समाज में स्त्री और पुरुष दोनों समानता के स्तर पर रहते हैं।'[31] गौरतलब है कि यहां छठी सदी ई.पू. की बात हो रही है। कल्पना की जा सकती है कि सैंधव यानी सिंधु घाटी सभ्यता के दौरान यह कितनी गरिमामय रही होगी, जिसे रामचरित मानस, तथाकथित महान ग्रंथ में ताड़न की अधिकारी कह कर नारी के सारे तर्क–विवेक और स्वतंत्रता को बांझ बनाकर रख छोड़ा है। वर्तमान नारी उत्पीड़न की लगभग सभी घटनाओं के मूल में 'ताड़न की अधिकारी' वाली सोच काम करती है, जिसके तहत नारी पुरुष के हाथों की कठपुतली से अधिक कुछ नहीं है।

इस कड़ी में डॉ. धर्मवीर द्वारा व्यक्त स्थापना काबिल–ए–गौर है। इसके अनुसार–'गोसाल ने हालाहला से विवाह किया था। इसी वजह से महावीर ने गोसाल को भ्रष्ट कहा था। महत्व अंजलिकम्म का है। महावीर और बुद्ध अंजलि कम्म के विरोधी थे। यह अंजलि कम्म क्या है? हाथ जोड़ कर स्त्री को प्रणाम करना है। गोसाल ने हाथ जोड़ कर स्त्री को प्रणाम किया था। अपने मरते समय भी उन्होंने अपनी पत्नी हालाहला को हाथ जोड़ कर प्रणाम किया था जिसे 'चरिमे अंजलि कम्म' कहा जाता है।'[32] आजीवक परंपरा पर प्रकाश डालते हुए डा. धर्मवीर महावीर की सोच को जगजाहिर करते हुए बताते हैं-'असल में, गोसाल और महावीर में बिगड़ी किस बात पर थी; जबकि ये दोनों छह सालों तक साथ–साथ रहे थे? बिगड़ी इस बात पर थी कि मक्खलि गोसाल ने स्त्री को साथ रखने का निर्णय लिया था। उन्होंने ब्रह्मचर्य की

इस परिभाषा को त्याग दिया था कि गृहस्थ और बाल-बच्चेदार आदमी होने से धर्म भंग होता है।'[33]

आजीवक संस्कृति के व्यापक कैनवास को समझने के लिए पुन: डॉ. धर्मवीर से रूबरू होते हैं। उनके अनुसार-'आजीवक चिंतन यह है कि राजा तो राजा, एक धर्म पुरुष को भी बिना परिवार और स्त्री के नहीं रहना चाहिए-आजीवक लोग परिवार रखते हैं और कमा कर खाते हैं-यह एक फैशन हो चला है कि जो जिस किसी भी क्षेत्र में काम करना चाहता है, वह उसके लिए सबसे पहले स्त्री, बच्चे और परिवार को त्यागे। ऐसे तो किसी को विज्ञान में, किसी को सेना में, किसी को डॉक्टरी में, किसी को इंजीनियरी में, किसी को साहित्य, संगीत, नृत्य या कला में और किसी को अनन्य क्षेत्र में काम करना होता है, तो क्या वे सब यही कहने लगेंगे कि उन्हें स्त्री और परिवार का त्याग करना है?[34]

इस संस्कृति में स्त्री त्याग करने के लिए नहीं है। यह आदमी के साथ कंधे से कंधा मिलाकर साथ चलने के लिए है; क्योंकि यहां लिंग भेद नहीं है। इसलिए स्त्री आजीवक की परिभाषा से बाहर नहीं है, जो बताती है-'आजीवक' शब्द का अगला विकास 'आजीविका' में होता है। आजीविका को खाना-कमाना, रोजगार, कमाई आदि कहा जाता है। इससे आदमी की गुजर-बसर होती भी पेशा हो, यह वही है और इस में हुनर की आवश्यकता होती है। 'आजीविका' को छोटा कर के मात्र 'जीविका' भी कहा जाता है-जीविकोपार्जन हेमचन्द्र की पुस्तक 'अभिधान चिन्तामणि' में भी इस शब्द के छह अर्थ दिए गए हैं।'[35] स्पष्ट है कि आजीवक संस्कृति में किसी भी प्रकार के काम, भले ही यह चिंतन-मनन व समाज सेवा से ही क्यों न जुड़ा हो, इसके लिए स्त्री और परिवार त्यागने की आवश्यकता नहीं है। यह संस्कृति इससे एक कदम आगे बढ़कर स्त्री को पुरुष की तरह काम करने को प्रेरित करती है। यह आजीवक संस्कृति जैसी सोच का ही परिणाम है कि स्त्री आज सेना तक में अनेक पदों पर महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर रही हैं। कहने की जरूरत नहीं कि आजीवक संस्कृति में परिवार का हर सदस्य आजीवक है, जीविकोपार्जन की प्रक्रिया का हिस्सा है।

आजीवक के विषय में व्याप्त नकारात्मकता से संस्कृति के सकारात्मक व यथार्थपरक पक्ष को समझने लिए थोड़ा आगे बढ़ते हैं। जैसाकि हम पहले बता चुके हैं कि आर्यों ने इस देश के मूलनिवासियों यानी आजीवकों को नेस्तनाबूद करने का कोई अवसर नहीं छोड़ा; और उन्हें अनेक निर्योग्यताओं से लादा। यद्यपि जैन धर्म और बौद्ध धम्म, आर्यो यानी हिंदू धर्म/सम्प्रदाय के विरुद्ध अस्तित्व में आए; लेकिन उन्होंने भी आजीवकों के साथ दुश्मन जैसी ही प्रतिद्वंद्वी व नकारात्मक भूमिका निभाई। भगवती सूत्र के हिन्दी भाष्यकार आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार-'उस युग में भी जब स्वयं तीर्थंकर विद्यमान थे, गोशालक जैसा पाखण्डी व्यक्ति अधिक लोकप्रिय बन गया था। भगवान् महावीर के अनुयायियों की संख्या केवल एक लाख उनसठ हजार) थी, जबकि गोशालक के अनुयायी ग्यारह लाख इकसठ हजार थे।[36] यहां गोशाल को पाखंडी कहा जा रहा है जबकि गोशाल के विषय में जानकारी मिलती है कि वे स्वयं आजीवकों के चौबीसवें तीर्थंकर थे और उनके अनुयाइयों की संख्या जैन और बौद्ध दोनों से अधिक थी। सवाल उठता है-यदि गोशाल पाखण्डी थे तो उनके अनुयाइयों की संख्या जैन और बौद्धों से अधिक कैसे हो सकती है; और यह दो हजार से भी अधिक वर्षों तक कैसे अस्तित्व में रहा? लेकिन आलम है कि जैन और बौद्ध साहित्य में आजीवकों के खिलाफ पूर्वाग्रह की भरमार है।

इस कड़ी में लोमहंसज टाला में कहा गया है कि बोधिसत्व स्वयं एक बार आजीवक बन गए थे। नग्न और एकाकी, वे लोगों को देखते ही हिरण की तरह भाग जाते थे। वह कूड़ा-कचरा, छोटी मछलियाँ और गोबर खाता था।[37] यदि इस प्रकार की घटना को थोड़ी देर के लिए सच भी मान लिया जाए, तो यह इस समाज का सामूहिक यथार्थ नहीं है, बल्कि किसी व्यक्ति विशेष की मानसिक विकृति का परिणाम हो सकती है, समग्रता में किसी धर्म-सम्प्रदाय की स्थाई प्रवृत्ति नहीं। झूठ फैलाने की यह भेड़ चाल यहीं नहीं रुकती, इस नासमझी को सच का जामा पहनाने के लिए हमारे सामने बालक जम्बूक की कहानी पेश की जाती है जिसमें बताया गया है-'जम्बूक ने बहुत कम उम्र में ही नग्नता और मल खाने की प्रवृत्ति विकसित कर ली थी, और इसके लिए उसके माता-पिता ने उसे आजीवक संघ में शामिल कर लिया था। कारण चूंकि वह अपने घृणित आहार से पूरी तरह संतुष्ट था, इसलिए उसने जाने से इनकार कर दिया।'[38] जम्बूक को मल खाने और नग्नता के चलते आजीवक संघ में शामिल करना, एक यह संकेत

भी देता है वहां इस प्रकार के मानसिक विकारों के मुक्ति का मार्ग उपलब्ध हो। यह आजीवकों के उत्तम चरित्र और समस्या निवारण के कुशल प्रबंधन का द्योतक हो सकता है। इसके विपरीत, अगर इस टिप्पणी से यह संकेत देने का प्रयास किया जा रहा है कि आजीवक मल खाते थे और नग्न रहते थे, तो इसे धूर्तता की पराकाष्ठा के अलावा कोई और नाम देना मेरे वश की बात नहीं है, खैर...।

आजीवकों के खानपान के नकारात्मक प्रचार से बाहर, सिक्के के दूसरे पहलू पर बात करते हैं। इस पहलू के अनुसार–'बौद्धों और जैनों की तरह आजीविका अहिंसा में विश्वास करते थे, और आमतौर पर शाकाहारी थे। यह असंभव नहीं है जैसा कि वायु पुराण इंगित करता है, उनमें से कुछ ने जादुई अनुष्ठानों का अभ्यास किया, जिसमें रक्त बहाना शामिल था–ऐसा कहा जाता है कि बुद्ध और महावीर, दोनों ने धार्मिक नेताओं के रूप में अपने करियर के दौरान कम से कम एक बार मांस खाया था।'[39] भले ही जैनों और बौद्धों ने आजीवकों पर बेबुनियाद आरोप लगाए हैं लेकिन उपरोक्त उदाहरण के आधार पर हम बुद्ध, महावीर और इनके पूरे समाज पर मांसाहारी होने का आरोप नहीं लगा सकते। यह अलग बात है कि आज विज्ञान और चिकित्सा ने मांसाहार को सामान्य आहार की तरह देखा है, कुछ मामले इसे बेहतर बताया है। इसके चलते आजकल मांसाहार को उस तरह से घृणित नजरिए से नहीं देखा जाता, जैसे बुद्ध और जैन के काल में देखा जाता रहा होगा।

ऐसे बिना हाथ-पैर के किस्सों से रूबरू होते हुए अचानक मुझे अपने यशस्वी प्रधानमंत्री की याद आती है। वे अपने चुनावी भाषण के दौरान अपने विरोधी राजनीतिक दलों के विरुद्ध नॉन-स्टॉप अनर्गल बयानबाजी के दौरान इंसानी जीवन के हर क्षेत्र को झूठ से ऐसे पाट देते हैं कि कुछ समय के लिए तो इसे सुनने वाला अंधभक्त भी शर्मसार होने से बच नहीं सकता। यहां उन घटनाओं और बयानबाजी का उल्लेख करना गैर-जरूरी महसूस हो रहा है। इस प्रकार के पूर्वाग्रह को समझने के लिए हमें सिक्के के दूसरे पहलू यानी इस संस्कृति के सकारात्मक पक्ष से रूबरू होना जरूरी महसूस हो रहा है। 'तीर्थंकरों की कुल संख्या चाहे जो भी हो, यह स्पष्ट है कि गोशाल को अपने अनुयायियों के बीच, जैनियों के बीच महावीर के बराबर दर्जा प्राप्त था, और उनके साथ बहुत सम्मान से पेश आया जाता था।'[40] –भगवती सूत्र के अपने अंतिम दिनों के विवरण के दौरान गोशाल के बारे में दो बार कहा जाता है कि उन्होंने वर्तमान अवसर्पिणी युग के चौबीसवें और अंतिम तीर्थंकर की स्थिति के लिए खुद दावा किया है।'[41] ये दोनों टिप्पणियां स्पष्ट संकेत देती है कि गोशाल महावीर से किसी भी रूप में कमतर नहीं हैं और समाज में उनकी स्वीकार्यता उल्लेखनीय है।

''तीर्थंकरों की कुल संख्या चाहे जो भी हो, यह स्पष्ट है कि गोशाल को अपने अनुयायियों के बीच, जैनियों के बीच महावीर के बराबर दर्जा प्राप्त था, और उनके साथ बहुत सम्मान से पेश आया जाता था।''

विश्लेषण की इस कड़ी में थोड़ा और आगे बढ़ते हैं तो पाते हैं–'अभिजात्यों के वर्गीकरण से संकेत मिलता है कि आजीवक जैनों को पवित्रता में अपने से दूसरे स्थान पर मानते थे। बौद्धभिक्षु तीसरे स्थान पर थे, और रूढ़िवादी ब्राह्मण को संभवतः काले वर्ग में दुष्ट कुरर-कम्मंत के साथ शामिल किया गया था, हालांकि, जैसा कि दिखाया गया है, 'कुछ संकेत हैं कि शुरुआती आजीवक अभ्यास और सिद्धांत कुछ मामलों में बौद्ध धर्म और जैन धर्म के अभ्यास और सिद्धांतों की तुलना में रूढ़िवाद के करीब थे।'[42] उपरोक्त टिप्पणी एक अनूठे स्तरीकरण की ओर संकेत करती है जिसमें ब्राह्मण, बौद्ध और जैन, तीनों आजीवक से निचले पायदान पर मौजूद हैं। यह आजीवक को फिट फॉर नथिंग की श्रेणी में रखने वालों की आंखें खोलने वाला है।

गोशाल और आजीवक समाज पर नग्नता का आरोप लगा कर कठारे में खड़ा करने वालों के लिए ए एल बाशाम की यह टिप्पणी काबिल-ए-गौर है। इसके अनुसार-'भगवती सूत्र में कहा गया है कि उनकी मृत्यु पर गोसाल मंखलिपुत्त के शव को एक शानदार वस्त्र पहनाया गया था और आभूषणों से सुसज्जित किया गया था, जो यह सुझाव देता है कि किसी प्रकार का पोपीय ठाठ-बाट आजीवकवाद के नेताओं के लिए अज्ञात नहीं था।'[43] साफ है कि आजीवक समाज वस्त्र और ओढ़ने-पहनने के मामले में अपने

समकालीन समाजों से किसी भी रूप में पिछड़ा नहीं था। स्पष्टता की गरज से थोड़ा आगे बढ़ते हैं तो पाते हैं–'भारत के बाहर भी आजीवकों के चित्रण मौजूद हैं। बोरोबुदुर में एक मूर्ति नव प्रबुद्ध बुद्ध की आजीवक उपका से मुलाकात को दर्शाती है; उपका के साथ यहां दो साथी आजीवक हैं, और तीनों ने एक अजीबोगरीब स्कर्ट जैसा परिधान पहना हुआ है और बालों को सावधानी से सजाया हुआ है (प्लेट II)।'[44]

इस संस्कृति में ओढ़ने-पहनने के अलावा भी आनंद और मौज-मस्ती और भी साधन उपलब्ध थे। अभयदेव द्वारा दो मार्गों (मग्ग) की परिभाषा से संदेह मजबूत होता है, जो छह दिसाचरों ने आठ महानिमित्तों के साथ पुव्वों से गोसाल की मृत्यु से कुछ समय पहले सम्मेलन में निकाला था। टिप्पणीकार के अनुसार, ये 'गीत और नृत्य हैं। आजीविकों की आठ अंतिमताओं में से दो को करिमगेये और करिमनट्टे, अंतिम गीत और नृत्य कहा जाता है,' और गोशाला ने स्वयं अपने अंतिम प्रलाप में गाया और नृत्य किया था।'[45]

वैसे भी आजीवक समाज कोई गया-बीता समाज नहीं था। इसमें कारीगर, व्यापारी और शासक, सभी रहे हैं। ये सामाजिक और आर्थिक मामले में किसी से कम नहीं थे। उस समय के समाज और आजीवकों की वेशभूषा के मसले को लेकर थोड़ा और आगे बढ़ते हैं तो पाते है-ब्राह्मणों ने जैनियों, बौद्धों और आजीवकों पर विशेष कर लगाए थे। कौटिल्य आजीवकों को अपना दुश्मन समझता था। उसने विधान किया है कि जो कोई आजीवकों और बौद्धों को भोजन खिलाता है, उस पर 100 पणों का जुर्माना लगाना चाहिए।–जैनियों और बौद्धों से प्रति परिवार के हिसाब से कर लिया जाता था, जबकि आजीवकों से यह प्रति व्यक्ति के हिसाब से लिया जाता था।[46] जाहिर है कि कर उन्हीं पर लगाया जाता है जो कर देने की कुव्वत रखते हैं। कर लगाने की दूसरी मंशा यह भी हो सकती है कि आजीवक अपने समकालीन शासक वर्ग के लिए चुनौती बने थे, जिसके कारण उन्हें शासक वर्ग के धर्म-संप्रदाय में शामिल होने के लिए का दबाव बनाने और हतोत्साहित करने के लिए उन पर टैक्स लगाए जाते थे। उल्लेखनीय है कि आजीवकों पर जैनों और बौद्धों की तर्ज पर परिवार के आधार पर टैक्स न लगाकर, प्रति व्यक्ति टैक्स लगाना, आजीवकों की प्रगतिशीलता और समृद्धि का द्योतक लगता है, न कि किसी पिछड़ेपन का।

आजीवकों का स्वतंत्रतावाद इस संस्कृति की एक अनूठी विरासत है जो रूसो के सामाजिक संविदा (Social Contract) के पहले वाक्य-'मनुष्य स्वतंत्र पैदा हुआ है और हर जगह वह जंजीरों में जकड़ा हुआ है यानी Man is born free and everywhere he is in chains, को सिरे से झुठलाता नजर आता है। हमें खुशी है कि यह प्रत्यक्ष अनुभववाद और विज्ञानवाद की बदौलत अस्तित्व में आता है। इस संस्कृति की प्राथमिकता 'व्यक्ति' है, इसलिए कुछ लोग इस संस्कृति के व्यक्तिवादी होने की बात करते हैं। इसे ओशो के नजरिए से देखें अगर, तो एक अलग ही तस्वीर उभरती है। इसके अनुसार-'गोशालक बड़ा स्वतंत्र है। अनुशासन मुक्त, आदत शून्य व्यक्ति था। अनप्रेडिक्टेबल।' इसके बाबत कुछ घोषणा नहीं की जा सकती कि गोशालक कल क्या करेगा। कल ही तय होगा। कल आने दो। क्षण-क्षण जीने वाला था।'[47] इस टिप्पणी के आधार पर कह सकते हैं कि आजीवक संस्कृति का अनुगामी जन किसी भी पूर्व निर्धारित मान्यता, परंपरा, विचार का गुलाम नहीं है। अगर डॉ. आंबेडकर से शब्द उधार लेकर कहें तो इस संस्कृति का पोषक खुद को 'निरंतर प्रयोगात्मक स्थिति' में रखता हैं और चारों ओर मौजूद प्रकृति और परिस्थितियों के अनुरूप यह खुद को अपडेट करता रहता है। निस्संदेह, यह अपडेट करते रहने की प्रवृत्ति किसी भी व्यक्ति, समाज, राष्ट्र व मानवता की प्रगतिशीलता की परिचायक है।

जहां तक ईश्वर, आत्मा-परमात्मा, पुनर्जन्म, पूर्वजन्म यानी पारलौकिकता का प्रश्न है, यह आजीवक के स्वतंत्र, अनुभवजन्य और वैज्ञानिकता पर आधारित चिंतन-दर्शन के विपरीत है; इसलिए यह संस्कृति इन सब का नकार करती है। ये शरीर को ही आत्मा मानते हैं। इसलिए आजीवकों के यहां चार पुरुषार्थों यानी अर्थ, काम, धर्म, मोक्ष में सिर्फ 'काम' ही एक मात्र पुरुषार्थ है। इस संस्कृति में 'मोक्ष' की अवधारणा नहीं हैं तो यह संस्कृति 'धर्म' को अनावश्यक मानती है। जहां तक 'अर्थ' का प्रश्न है, न इनका धन के संग्रह में कोई दिलचस्पी है और न ही इसके पीछे भागना इनकी नियति है। आजीवक अपनी स्थापनाओं के मामले में काफी स्पष्ट हैं, इनके यहां किसी प्रकार का कोई भ्रम नहीं है। इनका सब कुछ प्रत्यक्ष अनुभव और तर्क-विवेक पर

आधारित है। इसे ओशो के शब्दों में कुछ इस प्रकार समझा जा सकता है–'गोसाल ईश्वर को नहीं मानते थे। गोसाल ईश्वर से संबंधित सवालों के जवाब में कहता है, किसको पता? कौन जानता है? कैसे कोई जान सकता है? इतना निश्चित है, कभी अगर बनाया हो किसी ने, तो हम तो मौजूद न थे। क्योंकि हम तो बनाने के बाद ही मौजूद हो सकते हैं। हम तो बनाए गए। हम तो मौजूद न थे, जब बनाया गया होगा। तो अब उपाय कहां है जानने का, कि किसने बनाया?'[48]

हम जिस वर्तमान दौर से गुजर रहे हैं, उस दौर में ईश्वर के होने या न होने के विषय में स्पष्टता होना आवश्यक है; क्योंकि हमारे जीवन की गति–विधियों के केन्द्र में इसकी व्याख्या व प्रासंगिकता तय करने वाला धर्म आ गया है। यही देश की राजनीति व जन साधारण के आचरण का भी केंद्र बन गया है। हमारे चारों ओर जितने भी विवाद मौजूद हैं उनके मूल में किसी न किसी रूप धर्म का धंधा और धर्म की राजनीति मौजूद है। यहां घटनाओं का विवरण जरूरी नहीं, क्योंकि यह किसी से छिपा नहीं है। सिलंका ने भी आस्तिक की व्याख्या पर आजीवक दृष्टिकोण से विचार किया। उनके अनुसार–'इसी प्रकार सुख और दु:ख ईश्वर के माध्यम से नहीं आते हैं। (यदि वे आते हैं, तो) क्या ईश्वर सृजित है या निराकार है? अगर वह साकार है तो उसमें सभी चीजों को बनाने की क्षमता नहीं है, जैसाकि साधारण मनुष्य (जिसका भी साकार है) में है। अगर वह निराकार है, तो उसकी निष्क्रियता खाली जगह (जो भी निराकार है) से ज्यादा होनी चाहिए। इसके अलावा, अगर वह जुनून और अन्य (भावनाओं) के अधीन है, क्योंकि वह हमसे (नश्वर) श्रेष्ठ नहीं है, तो वह ब्रह्मांड का निर्माता नहीं है। और अगर वह जुनून से रहित होता तो दुनिया में भगवान और गरीब आदमी के अच्छे और बुरे भाग्य की विविधता, जो उसने बनाई है, नहीं होती। इसलिए ईश्वर सृष्टिकर्ता नहीं है।'[49]

आजीवक संस्कृति के बहाने मेरे मन में एक प्रश्न बार–बार कौंधता है–ईश्वर, आत्मा–परमात्मा, पुनर्जन्म, पूर्वजन्म यानी पारलौकिकता का जनक और व्याख्याता कौन है? मुझे लगता है कि यह कबीर–रैदास और आजीवक जैसे सांसारिक लोगों का काम नहीं है; क्योंकि ये सभी तो लौकिक जगत में रहते हुए, अपनी रोजी–रोटी के सवालों से जूझते हुए, इसी जगत की चुनौतियों को समझने, उनका मूल्यांकन करने और समाधान करने में अपना सारा जीवन व्यतीत कर देते हैं। लेकिन सवाल अब भी अपनी जगह मौजूद है, तो फिर कौन? जाहिर है, ये वे लोग हैं जो अपने–आपको धर्म के प्रतीक, इसके करता–धरता और इसके वजवाहक समझते हैं। कहने की जरूरत नहीं किप्रमुख रूप से यह कार्य ब्राह्मणों ने किया है ताकि ये अपने खुद के और अपने समाज के सामाजिक, आर्थिक और अन्य सभी प्रकार के हितों और श्रेष्ठता को चिरस्थाई बनाए रख सकें। इसमें समाज के सार्वभौमिक हितों की सुरक्षा होना संभव नहीं है; क्योंकि समाज के हितों को बोना करके यानी रोंधकर ही इन्होंने अपने कद को बढ़ाने के लिए पारलौकिकता व्यूह रचना की है।

अपने पूर्व–नियोजित लक्ष्य की पूर्ति के लिए इन्होंने संसार का त्याग कर (जो मानसिक व आत्मिक रूप में होता नहीं है, त्याग का श्रेय लेने के लिए ऐसा किया जाता है।) जंगलों, पर्वतों या उन निर्जन स्थानों को अपनी शरणस्थली बनाया होगा, जहां सांसारिक जीवन से जुड़े क्रियाकलाप, चुनौतियां वगैरा इनके चिंतन–दर्शन की परिधि से बाहर हो गए होंगे। यह इनके वजूद और श्रेष्ठता के लिए चुनौती भी हो सकता है। बहुत संभव है कि इनके पास अपने वर्चस्व और श्रेष्ठता स्थापित करने या बनाए रखने के लिए ईश्वर, आत्मा–परमात्मा, पुनर्जन्म, पूर्वजन्म यानी पारलौकिकता से जुड़े विषयों पर विचार के अलावा बचता ही क्या है? हां, अगर ये संसार की समस्याओं को लेकर कहीं भी एकांतवास में गए होते तो निस्संदेह इनका प्रत्येक कदम सराहनीय व अनुकरणीय होता। लेकिन ऐसा नजर नहीं आता; मजे की बात है कि अपने पारलौकिक विषयों को लेकर इन्हें आना भी इसी संसार में पड़ता है, जिससे से तथाकथित एकांतवास में भी मुक्त नहीं हो पाते। यही वह संसार है जहां ये अपनी श्रेष्ठता व वर्चस्व का लोहा मनवाने के लिए समाज में ईश्वर, पाप–पुण्य, लोक–परलोक का प्रचार–प्रसार करते हैं। अनेक प्रकार के डर को पैदा करते हैं और इस डर से मुक्ति के लिए स्वयं ही स्नान, वृत, दान, यात्रा, यज्ञ आदि का विकल्प सुझाते हैं।

दूसरे शब्दों में, ये कस्तूरी मृग की तर्ज पर, इंसान को मोक्ष रूपी कस्तूरी के चक्कर में उलझा देते हैं।इसे ढूंढते रहने के चक्कर में इंसान का एक

मूल्यवान जीवन अपने अंत को प्राप्त हो जाता है। लेकिन इनके हित चिरस्थाई बने रहते हैं।इसके विपरीत, आजीवक संस्कृति में निर्वाण यानी लोभ, काम, क्रोध, वासना आदि से निवृत्ति का साक्षात्कार हर कदम पर होता रहता है, यही परमानंद और सुकून के अवस्था है। इस कड़ी सवाल तो बनता है-जब देश-दुनिया के महान वैज्ञानिक, दार्शनिक, समाज विज्ञानी आदि इसी संसार में और घर-परिवार की जिम्मेदारियों का निर्वहन करते हुए, एक से एक बड़ा शोध और अविष्कार कर मानव कल्याण कर सकते हैं तो ये तथाकथित धर्म-ध्वजवाहक ऐसा क्यों नहीं कर सकते? क्या बुद्धिज्म, जैनीज्म, सिक्खीज्म, इस्लाम, ईसाइयत आदि का उदय और विकास जंगलों, पहाड़ों जैसे एकांतवास की देन हैं? यह अलग से शोध का विषय हो सकता है।

इस कड़ी में आजीवकों के साथ सबसे बड़ी साजिश नियतिवाद को लेकर हुई है। नियतिवाद को 'अकर्मण्यवाद' कहकर इनके खिलाफ, खाप पंचायतों जैसा इकतरफा फतवा सुनाया जा रहा है। आजीवक संस्कृति को निकम्मेपन, निठल्लेपन और भाग्यवाद की भट्टी में झोंकने का प्रयास किया जा रहा है। लेकिन एक हकीकत यह भी है कि सत्य पराजित नहीं किया जा सकता। इसे सिलंका की टिप्पणी से समझने का प्रयास करते हैं। इसके अनुसार-'अब नियतिवादी अपना दृष्टिकोण प्रकट करते हैं। (शब्द) संगय्यम (पाठ में) का तात्पर्य आंतरिक विकास द्वारा पूर्ण रूप से स्थानांतरण से है। सभी सुख और दुख का अनुभव जो भी हो, वह संयोगवश होता है। इसमें नियति का अर्थ है उसका (यानी संयोग का) अनिवार्य स्वरूप संयोगवश होता है। वे कहते हैं कि चूंकि सुख और दुख आदि मानवीय क्रियाकलापों से उत्पन्न नहीं होते, इसलिए सभी प्राणियों के लिए वे भाग्य द्वारा उत्पन्न होते हैं और संयोगवश होते हैं।'[50]

''नियतिवाद भाग्यवाद नहीं है, बल्कि वह प्रकृतिवाद है जिसे आदिवासियों के बीच आज भी देखा जा सकता है। आदिवासी दर्शन परंपरा यह मानता है कि सब कुछ प्रकृति-सृष्टि के अधीन है। मनुष्य अपने पराक्रम से उसमें कोई हेर-फेर करने की क्षमता नहीं रखता है। आदिवासी दर्शन की समझ नहीं रखने के कारण दर्शन और इतिहास के अध्येता आजीविकों के दर्शन को नियतिवाद मान बैठे।''

हम सिलंका के विचार 'सुख और दुख आदि मानवीय क्रियाकलापों से उत्पन्न नहीं होते, ...भाग्य द्वारा उत्पन्न होते हैं' से असहमति दर्ज करते हुए हम 'संयोगवश होते हैं' से सहमत होते हुए, हम कह सकते हैं कि नियति का अर्थ संयोग है, और संयोग का कोइंसिडेंस की श्रेणी में रखकर इसे भाग्यवाद की श्रेणी रखना शरारतपूर्ण कृत्य है। ऐसे में सवाल उठता हैं तो फिर संयोग क्या है? इसके उत्तर की तलाश में जब हम इसका संधि-विच्छेद करते हैं तो पाते हैं, यह 'सम्+योग' होता है जिसमें सम् का अर्थ 'एकत्रित करना या जुड़ना' है। इस संदर्भ में रेखांकित करने वाले हकीकत यह है कि संयोग प्रकृतिजन्य तो होता ही है मगर यह मानवजन्य भी होता है। इस कड़ी में पानी के बनने या अस्तित्व में आने को नियति के संदर्भ में व्याख्या करें तो पाते हैं-हाइड्रोजन के दो परमाणु और आक्सीजन का एक परमाणुका मिलन, पानी यानी H_2O के एक अणु की नियति है, इसे प्रकृतिजन्य की श्रेणी में रख सकते हैं। यह हम की विभिन्न अवस्था में होने की बात नहीं कर रहे हैं। दिन-रात होना और ऋतुओं का बदलना भी पृथ्वी के सूर्य के चारों ओर विभिन्न अवस्था में परिक्रमा और घूर्णन का परिणाम है। इसे दिन-रात बनने या ऋतुओं के बदलने की नियति कह सकते हैं।

इस कड़ी में नर और मादा के आपसी परिस्थिति विशेष के अनुरूप संयोग से उनकी नस्ल की उत्पत्ति होती है, उनकी वंश परंपरा आगे बढ़ती है। यह प्रत्येक नस्ल विशेष की अपनी नियति है। जैसा खान-पान यानी पोषण होगा और जैसा इनका पर्यावरण होगा, उसके अनुरूप इनका विकास होता रहेगा और एक अवस्था के उपरांत इनका अंत होगा। इसमें प्रकृति और इससे बाहर के कृत्य/परिस्थितियों की अपनी अलग भूमिका है। जो उत्पन्न होता है, उसकी नियति उसके अंत यानी मृत्यु है। हमारे जीवन से जुड़ा प्रत्येक पहलू जैसे हंसना-रोना दुख-सुख, सफलता-असफलता आदि कुछ निश्चित प्रकार के क्रियाकलापों के संयोग से होता है। इसी प्रकार हम कह सकते हैं कि हमारे निश्चित प्रकार के क्रियाकलापों के कुछ निश्चित प्रकार के परिणाम होना उनकी नियति है। यह पूरी तरह वैज्ञानिकता व व्यवहारिकता पर आधा-

रित है। नियति की इस पूरी प्रक्रिया में क्रियाशीलता और संयोग की भूमिका केंद्रीय यानी सार्वभौमिक प्रवृत्ति के रूप में मौजूद रहती है।

अश्विनी कुमार पंकज के माध्यम से थोड़ा सरल भाषा में समझते हैं- 'नियतिवाद भाग्यवाद नहीं है, बल्कि वह प्रकृतिवाद है जिसे आदिवासियों के बीच आज भी देखा जा सकता है। आदिवासी दर्शन परंपरा यह मानता है कि सब कुछ प्रकृति-सृष्टि के अधीन है। मनुष्य अपने पराक्रम से उसमें कोई हेर-फेर करने की क्षमता नहीं रखता है। आदिवासी दर्शन की समझ नहीं रखने के कारण दर्शन और इतिहास के अध्येता आजीविकों के दर्शन को नियतिवाद मान बैठे।'[51] जाहिर है, यह नियतिवाद प्रकृति के संबंध में है। प्रकृति के अनुशासन से प्रेरणा लेकर कोई भी इंसान निरंतर एवं निस्वार्थप्रयासों से जीवन में किसी भी बुलंदी को हासिल कर सकता है, जिसमें कुछ न कुछ नया करने व सीखने के दरवाजे कभी बंद नहीं होते। यहां जैनियों की सर्वज्ञता या ईश्वर जैसी पूर्णता के लिए कोई जगह नहीं है। इसलिए यहां ईश्वर और पारलौकिकता के लिए कोई स्थान नहीं है।

डा. धर्मवीर इसी सर्वज्ञता को कठारे में खड़ा करते हुए कहते हैं-'जैन साधना-पद्धति से गुजरकर जो व्यक्ति परम स्थिति को पहुंचता है, वह सर्वज्ञ हो जाता है। यह जैनों का सर्वाधिक महत्वपूर्ण सिद्धांत है-सर्वज्ञ। तो गोशालक से ठीक बिलकुल विपरीत हो गई बात। गोशालक कहता है जो जानता है, वह तो जानता है कि कुछ भी नहीं जानता। गोशालक से सुकरात की दोस्ती बन जाती है। गोशालक से सार्त्र और कामू की और काफ्का की दोस्ती भी बन जाती है। नीत्शे भी गोशालक के पास बैठता तो मैत्री अनुभव करता-लेकिन जैन कैसे मैत्री अनुभव सकते हैं?[52] इसे ओशो के माध्यम से समझने का प्रयास करते हैं। ओशो अपने संवाद में आगे कृष्ण के विचार-'ईश्वर करता है, कर रहा है' के विरुद्ध गोशालक को ले आते हैं, जो कहता है, कोई ईश्वर है, पता नहीं। इतना तय है कि आदमी के पुरुषार्थ से कुछ भी नहीं होता। जो होता है, वही होता है। कभी हो जाता है तो तुम सोचते हो, हम जीत गए। कभी नहीं होता तो तुम सोचते हो, हम हार गए, लेकिन जो होना था, वही होता है। जब हो जाता है, तुम अकड़ जाते हो। जब नहीं होता, तुम सिकुड़ जाते हो। तुम नाहक अकड़ते-सिकुड़ते हो। तुम नाहक जीतते-हारते हो। जो होना है वही होता है।'[53]

उपरोक्त टिप्पणी में एक वाक्य- 'आदमी के पुरुषार्थ से कुछ भी नहीं होता' एक साजिश का हिस्सा लगता है, जाने-अनजाने ओशो भी इसमें शामिल हो गए लगते हैं, जबकि आजीवक गृहस्थ जीवन के साथ-साथ कमा कर खाने में विश्वास रखते हैं। वे पहले ही पुरुषार्थ के तीन अव्यव यानी अर्थ, धर्म और मोक्ष को नकार कर सिर्फ 'काम' को सब कुछ मान कर चलते हैं। यदि हम डाक्टर/इंजीनियर बनने का लक्ष्य लेकर, इसके अनुरूप अपनी कार्य योजना को अंजाम देते हैं तो जो भी मार्ग खुलेगा, वह डाक्टर/इंजीनियर के व्यवसाय की ओर ले जाता है। यह हमारे प्रयासों यानी 'काम' की नियति है। यह प्रक्रिया हमारे जीवन के हर क्रियाकलाप की नियति के रूप में हमारे सामने आती है। इसे कार्यकारी यानी कर्म का सिद्धांत कह सकते हैं। गौरतलब है, इसे विशुद्ध परिणाम भी कह सकते हैं, यह व्यक्ति द्वारा दिशा विशेष में उठाए गए कदमों की कार्य कुशलता पर निर्भर करता है। स्पष्ट है कि प्रकृति अपने स्तर पर और इंसान अपने स्तर पर नियति का निर्धारित करता है। इसे (ंइ+इ)2=2+इ2+2 ंइ के माध्यम से एक लाइन में समझ सकते हैं। यह इंसानी प्रयासों ने तय किया है कि (ं+इ)2 की नियति/परिणाम सदैव ं 2 + इ 2 + 2 ंइ ही होगा। इसमें अकर्मण्यवाद और भाग्यवाद का कोई लेना-देना नहीं है। यह साजिश नहीं तो क्या है कि आजीवकों के काम की सर्वोच्च प्राथमिकता के बावजूद इसे जबरन 'अकर्मण्यवाद' या भाग्यवाद के खांचे में फिट करने का दुस्साहस किया जाता है? क्या सिंधु घाटी से शुरू हुई कोई भी सभ्यता-संस्कृति मात्र भाग्यवाद या अकर्मण्यवाद के भरोसे चौदहवीं शताब्दी जैसी लंबी अवधि तक जिंदा रह सकती है। लेकिन 'अकर्मण्यवाद' लोग हैं कि अपने हास्यास्पद तर्कों से आज भी बाज नहीं आते।

मौजूदा संदर्भ में यह समझना प्रासंगिक है कि जैन आजीवकों के विरोध में क्यों खड़े थे। आचार्य रजनीश, जो मूल रूप में एक जैन परिवार से आते हैं के अनुसार-'जैन नाराज हैं। क्योंकि जैनों का तो सारा आधार चरित्र है, अभ्यासजन्य। इंच-इंच हिसाब बांध कर चलना है। जरा-सी भूल-चूक न हो जाए। सिद्धांत से यहां-वहां चिंतन हो जाए। सब संहालकर लीक पर चलना है।'[54] इस प्रकार के जीवन को कोल्हू

के बैल की संघ नहीं दी जानी चाहिए, जिसकी आंखों पर पट्टी बंधी है, क्योंकि इस बैल और 'इंच-इंच हिसाब बांध कर' चलने में व्यक्ति के व्यक्ति होने के लिए कुछ बचता ही कहां है; क्योंकि व्यक्ति की बुद्धि और विवेक ही तो है जो उसे पशुओं से अलगाव है। क्या आज का इंसान धर्म के नाम पर रोबोट बनकर नहीं रह गया है? इतना दावे से कहा जा सकता है कि आजीवक संस्कृति रोबोट बने व्यक्ति को पुन: उसकी मौलिक अवस्था 'इंसान' के रूप में लौटाने की कुव्वत रखता है।

नाराजगी की कड़ी में ब्राह्मण के विरोध को न समझा जाए तो विषय के साथ नाइंसाफी होगी। द्रविडियन एनसाइक्लोपीडिया के अनुसार-'ब्राह्मण लोग आजीवकों को तिरस्कार की भावना से देखते थे। मक्खलि गोसाल ने ब्राह्मण पर हमला बोला था। ब्राह्मणों की बनाई समाज व्यवस्था से असंतुष्ट लोग आजीवक धर्म से जुड़ गए थे-मक्खलि गोसाल ने जाति व्यवस्था की आलोचना करते हुए कर्मवाद की नई व्याख्या प्रस्तुत की थी। इसलिए, अधिकतर लोग उन के अनुयायी हो गए थे। इतना ही नहीं, राज दरबार से जुड़े हुए और अन्य धनी लोग भी उन से जुड़ गए थे।'[55] जैसाकि ऊपर बताया गया है कि आजीवक संस्कृति रोबोट को इंसान बनाने की क्षमता रखती है। स्वतंत्रता किसे प्यारी नहीं है? जाहिर है, इसी स्वतंत्रता का लाभ उठाने के लिए अधिकतर लोग ब्राह्मण की बनाई समाज व्यवस्था से बगावत कर गोसाल के कर्मवाद का अनुसरण के लिए आजीवक बन गए होंगे। असंतुष्टता की श्रेणी में ब्राह्मण भी हो सकते हैं, इससे इंकार नहीं किया जा सकता। ऐसा करना साहस की बात है, जिसका वर्तमान भारतीय समाज में नितांत अभाव है।

विषय की स्पष्टता के लिए पुन: ओशो के पास में चलते है-'अज्ञान (हमें यहां उल्लेख करना जरूरी महसूस हो रहा है कि ज्ञान वह है जिसकी कोई सीमा नहीं है) अनंत ज्ञान का इतना बड़ा समर्थक कभी कोई हुआ ही नहीं। तो जैनों को सबसे ज्यादा कष्ट इस आदमी से रहा होगा। इसको जैन कहते हैं, उद्दंड, कलहप्रिय, विवादी। यह जैनों की व्याख्या है। यह कलहप्रिय जैनों को मालूम हुआ होगा। क्योंकि जैन दावा कर रहे थे कि हमारा गुरु सर्वज्ञ है। अल्पज्ञ होना भी संभव नहीं, अज्ञ होना भी संभव नहीं।'[56] हमें लगता है कि आजीवक संस्कृति सुकरात के करीब है, जो दावा करते हैं 'एकमात्र सच्चा ज्ञान यह जानना है कि हम कुछ भी नहीं जानते'। अगर इसे वर्तमान की रोशनी में समझें तो हमारे सामने एप्पल के संस्थापक स्टीव जॉब्स का लोकप्रिय विचार 'स्टे हंगरी, स्टे फुलिश' आजीवक संस्कृति के आधुनिक संस्करण के रूप में हमारे सामने आता है, क्या नहीं? क्या किसी व्यक्ति, ईश्वर या किसी की भी सर्वज्ञता के समक्ष व्यक्ति का समर्पण हमारे पिछड़ेपन और सारे विवादों की जड़ नहीं है? क्या सर्वज्ञता के प्रति अंधभक्ति ने इंसानों को नवाबों (आज के धार्मिक और राजनीतिक सत्ता-धारियों) के मनोरंजन के मुर्गे बनाकर नहीं छोड़ दिया है? ये नवाब इन मुर्गों की गर्दन पकड़कर आपस में लड़ाते रहते हैं। मुर्गे इससे निरंतर लहूलुहान होते रहते हैं और नवाब खिलखिलाते रहते हैं। हमारा मानना है कि आजीवक संस्कृति इस नवाब और मुर्गा संस्कृति से मुक्ति का शानदार विकल्प हो सकती है।

विषय के समापन की ओर बढ़ते हुए आजीवक संस्कृति की प्रासंगिकता पर विचार करना अनिवार्य महसूस हो रहा है। आजीवक संस्कृति चूंकि पारलौकिकता में विश्वास नहीं करती, इसलिए यह इस पृथ्वी को अंतिम शरणस्थली मानते हुए इसे ही स्वर्ग बनाने की पक्षधर है, जहां सुख और सुकून, व्यक्ति और समाज की प्राथ-मिकता होते हैं। यहां सुख का अर्थ निजी धन-दौलत, शौहरत वगैरा से एक कदम आगे बढ़कर गुणात्मक/आत्मिक सुख के लिए पुरुषार्थ करना है, जो सुख की सार्वभौमिकता की पगडंडी है। इसके लिए श्रमण यानी सीकर/खोजी होने की जरूरत है, जो हमें चार्वाक/आजीवक परंपरा के संवाहक कबीर, रैदास जैसे संतों के तर्क-विवेक व वैज्ञानिकता की जीवनशैली में मुखरता से मौजूद नजर आती है।

जाहिर है, वैज्ञानिकता से आत्म-विश्वास और वैचारिक स्पष्टता आती है। यह हमारे दैनिक जीवन के क्रिया-कलापों को सार्वभौमिक स्वीकार्यता की श्रेणी में लाकर खड़ा करती है। इसके विपरीत आस्था व अंधश्रद्धा, व्यक्ति को किसी व्यक्ति, पुस्तक/ग्रंथ, परंपरा, रीति रिवाज की गुलामी की ओर धकेलती है। यह गुलामी व्यक्ति के आंतरिक व बाह्य संसाधनों को कुंद कर मानवता को अपूरणीय क्षति पहुंचाती है। सभ्यता व संस्कृति के पतन का सबब बनती है। चार्वाकों (आजीवकों) की इस अनूठी विरासत के साथ खड़े होकर डा. विकास दिव्यकीर्ति देश के दूसरे राष्ट्रपति

सर्वपल्ली राधाकृष्णन की टिप्पणी के हवाले से बताते हैं–'चार्वाक (आजीवक) न होते तो अपना सारा चिंतन–दर्शन भाटवादी हो जाता, चारणवादी हो जाता। इन्होंने रूढिवाद से छुटकारा दिलाने में मदद की। इन्हीं की वजह से कई लोग रास्ते पर रहे वरना...।'[57]

यहां 'रूढिवाद से छुटकारा' 'कई लोग' और 'वरना' के बाद जो खाली स्पेस है, वह बहुत कुछ कहता है, जो भारत के चिंतन–दर्शन को चारणवादी होने के कलंक से बचाता है। यदि ये 'कई लोग' कई न रहकर काफ़ी लोग हो जाते तो संभव है चार्वाक/लोकायत ग्रंथों को जलाया नहीं गया होता। अगर ऐसा होता तो विश्व में आजीवक संस्कृति का बोलबाला होता और आविष्कारों की दुनिया में भारत अग्रणी पंक्ति में शुमार होता। यह टिप्पणी वर्तमान 'विश्वगुरु' के तमाशे जैसी खोखली व आधारहीन बुनियाद पर नहीं, बल्कि आजीवक संस्कृति, जिसे विकास दिव्यकीर्ति मैथेडिक डाउट पर आधारित बताते हैं, हम इसे लॉजिकल डाउट पर आधारित संस्कृति कहते है, की ठोस बुनियाद पर खड़ी है। हम दिव्यकीर्ति की टिप्पणी–'अगर चार्वाक दर्शन बचाया गया होता तो यूनिवर्सिटी के हर विभागाध्यक्ष के नाम के सामने चार्वाक लिखा होता।' को पुनः दोहराना चाहते है, क्योंकि यह इतिहास की भयंकर भूल के दुष्प्रभाव का आईना प्रस्तुत करती है।

जो व्यक्ति ईश्वर की गोद में बैठकर, नियतिवाद को गाली देने के नित नए हथकंडे अपनाते हैं और आजीवक संस्कृति को बदनाम करते हैं। हम उन महानुभावों से पूछना चाहते हैं कि हमारे चारों ओर का बहुसंख्यक समाज, व्यक्ति के जीवन में जन्म से लेकर उसकी मृत्यु तक, अच्छा या बुरा, जो भी होता है, वह उसे ईश्वर/अल्लाह की मर्जी बताता है। इसका अर्थ है कि हमारे जीवन में जो कुछ भी होता है, वह हम नहीं, ईश्वर/अल्लाह करता है। इस नजरिए से देखें तो सवाल उठता है–अकर्मण्यवादी कौन है? भाग्यवादी कौन है? इन प्रश्नों के उत्तर पाना कोई रॉकेट साइंस नहीं है। क्या यह वह नहीं, जो नियतिवाद की आधारहीन व्याख्या कर, इसे अकर्मण्यवाद व भाग्यवाद के कठारे में खड़ा करता है। यह वह स्थिति है, जिसमें भैंस अपना रंग देखती नहीं और छतरी से डरती है।

डा. विकास दिव्यकीर्ति अपने यू–ट्यूब चौनल पर चौथे एपीसोड में चार्वाक के वेदों से पहले होने के कई स्पष्ट संकेत देते हैं, जिसका लब्बोलुआब कुछ इस प्रकार हैं–'एक–वेदों में सुखवाद लिखा मिलता है, यह बताता है चार्वाक वेदों से पहले हैं। वेदों में शक्ति मांगने पर बल है ताकि वे अपने शत्रु पर अपना वर्चस्व कायम कर सकें, (संभवतः यहां उनके शत्रु मूलनिवासी यानी चार्वाक/अनार्य/सैंधव ही हैं जिनकी चर्चा हम इसी आलेख में पहले कर चुके हैं) दो–उपनिषद काल में ऋषि वनों व पर्वतों पर जाने लगे थे। यही काल है जहां ईश्वर की सर्वोच्चता स्थापित होती है। तीन–वेदों में ज्ञान की तलाश बाहर है और उपनिषदों में अंदर और यहीं से वैराग्य को बल मिलता है।'[58] इससे संकेत मिलता है कि वेदों की सांसारिकता का विकास पारलौकिकता में होता है। बहुत संभव है कि इस काल में ईश्वर, पुनर्जन्म, पूर्वजन्म, आत्मा–परमात्मा, पाप–पुण्य आदि की दार्शनिकता को बल मिला, जो आज अपने चर्म की ओर अग्रसर है। दिव्यकीर्ति की टिप्पणी–'इसी काल में भारत में ही नहीं पूरे विश्व में ईश्वर की सत्ता का भरपूर विकास हुआ।'[59]

चार्वाक के पक्ष में दिव्यकीर्ति एक और महत्वपूर्ण जानकारी साझा करते हैं–'यह दुनिया अणु से बनी हैं; यह बात 2300 साल पहले मक्खली गोसाल ने कह दिया थी।... आजकल एआई यानी आर्टिफीशियल इंटेलिजेंस और चैट जीपीटी के जमाने में चार्वाक के तर्क प्रमाणित सिद्ध होते नज़र आते हैं। जीवित शरीर ही आत्मा है।'[60] लेकिन दुखद है कि आजीवक के समर्थक ऊपर वर्णित 'कई लोग' कई लोगों तक ही सिमट कर रह गए है; और बहुसंख्यक आज भी चार्वाक/आजीवकों को '*पीत्वा पीत्वा पुनः पीत्वा, यावत्पतति भूतले।, उत्थाय च पुनः पीत्वा, पुनर्जन्म न विद्यते।।*' यानी पीओ, पीओ पुनः पीओ जब तक पीते–पीते जमीन पर गिर न जाओ और जब उठो तो फिर से पीओ क्योंकि पुनर्जन्म नहीं है, जैसे फतवे जारी कर आजीवकों को आरोपित करते हैं। आज का बहुसंख्यक जो आस्था के आडंबर को ओढ़कर उन्हीं रूढिवादी परंपराओं को ढो रहा है, जिनसे छुटकारा पाने का श्रेय डा.राधा–कृष्णन चार्वाक/आजीवक यानी भौतिक–वादी/विज्ञानवादी/संदेहवादी संस्कृति के संवाहकों को दे रहे थे। ये रूढिवादी ही हैं जो अपने रूढिवाद को औचित्य सिद्ध करने के लिए वसीम बरेलवी के शेर में आश्रय और सुकून तलाशते हैं, जो इस प्रकार है–'सलीका ही नहीं शायद उसे महसूस करने का, जो कहता

है, खुदा है तो नजर आना जरूरी है।'

दरअसल, चार्वाक/आजीवक कोई धर्म नहीं है, बल्कि एक वैज्ञानिकता की पोषक जीवनशैली है। आजीवक संस्कृति के संवाहक इस सुकून को धार्मिक रोग कहते हैं और मार्क्स इसे अफीम की संज्ञा देते हैं। इस मानसिक विकार के चलते ही आज चारों ओर धर्म के नाम पर जितने फसाद हो रहे हैं, उतने फसाद अन्य किसी मसले को लेकर नजर नहीं आते। हम जानते हैं कि धर्म का इतिहास विज्ञान को दबाकर अपने नियंत्रण के रखने का रहा है। लेकिन विज्ञान है कि हर क़ीमत चुकाकर भी अपनी उपस्थिति दर्ज करता चला आ रहा है। नहीं भूलना चाहिए-अगर विज्ञान ने हार मान ली होती तो आज भी हम कबीला और आदिम युग में जी रहे होते और धार्मिक सत्ता भी उन सब उपकरणों का उपभोग नहीं कर रही होती, जिनकी वह गुलाम होकर रह गई है; और इन सुविधाओं पर इतराने में किसी से पीछे नहीं है। कीमत चुकाने की इस कड़ी में जियोर्दानो ब्रूनों (Giordano Bruno) जैसे व्यक्ति भी इतिहास में हुए हैं जिन्होंने खगोलीय पिंडों के विषय में अपने वैज्ञानिक निष्कर्षों को सार्वजनिक किया। परिणामस्वरूप, धर्म के कोपभाजन का शिकार हुए और उन्हें अफवाह फैलाने के जुर्म में जिंदा जलाकर मौत के घाट उतार दिया गया। इसी कड़ी में निकोलस कॉपरनिकस को अपने क्रांतिकारी शोध के कारण गंभीर आरोपों को झेलना पड़ा; और गैलिलियो गैलिली का नजरबंदी के चलते दुखद अंत भी किसी से छिपा नहीं है।

सुकरात को जहर पीकर अपनी मौत को गले लगाना भी धर्म के सत्य, नैतिकता और तर्क-विवेक यानी वैज्ञानिकता के खून का मसला नहीं तो क्या है? इतिहास के इस खूनी खेल का सिलसिला आज भी जारी है और आजीवक संस्कृति का खून भी इसी श्रेणी में आता है। दरअसल, आजीवक संस्कृति के अनुसार धर्म वह है जो हमें प्रकृति के अनुशासन में नजर आता है-एकदम स्वाभाविक और निष्कलंक। अगर हम प्रकृति के नियतिवाद यानी न्याय और नैतिकता को अपने जीवन के सभी क्रियाकलापों में ईमानदारी से शामिल कर पाते तो इनकी सार्वभौमिक स्वीकार्यता होती और अमन चैन का एकछत्र साम्राज्य होता। अगर आजीवक संस्कृति विलुप्त न की गई होती और यह अपने निरंतर अपग्रेडेशन के साथ मौजूद होती तो तर्क-विवेक यानी विज्ञान का वर्चस्व होता; निस्संदेह जीवन के हर क्षेत्र में आविष्कार होते; नैतिकता और न्याय की तर्कयुक्त परिभाषाएं और उनका स्वाभाविक प्रचलन होता और भारत सच्चे अर्थों में विश्वगुरु जैसा कुछ होता। अंत में एक सवाल- 'क्या ऐसा नहीं हो सकता कि धर्म और विज्ञान, दोनों कदम से कदम मिलाकर चलें और आपसी अमन चैन और प्रगति की नई और बेमिसाल इबारत लिखें?❑

संदर्भः

1. आचार्य आनंद झा, चार्वाक दर्शन, उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान प्रभाग, राजर्षि पुरुषोत्तम टण्डन हिंदी भवन, महात्मा गांधी मार्ग, लखनऊ, द्वितीय संस्करण 1983, प्राक्कथन, पृ. 8
2. -वही- पृ. 8-9
3. विकास दिव्यकीर्ति, यू-ट्यूब Episode 4] Charvak Philosophy% An Introduction
4. डा. एल. डी. बार्नेट, लेखक-ए. एल. बाशम, हिस्ट्री एंड डॉक्ट्रिंस ऑफ द आजीवकाज, ए वेनिशड इंडियन रिलिजन, भूमिका।
5. ए. एल. बाशम, हिस्ट्री एंड डॉक्ट्रिंस ऑफ द आजीवकाज, ए वेनिशड इंडियन रिलिजन, परिचय पृ. 3
6. -वही- परिचय पृ. 3
7. विकास दिव्यकीर्ति, Episode 4] Charwak Philosophy% An Introduction
8- Vinay Putaja infra] pp- 27ff
9. विकास दिव्यकीर्ति, यू-ट्यूब Episode 4] Charvak Philosophy% An Introduction
10. डा. धर्मवीर, महान आजीवक कबीर, रैदास और गोसाल, वाणी प्रकाशन, 4695, 21ए, दरियागंज, दरियागंज, दिल्ली, भूमिका, पृ. 01
11. कांग्रेस और गांधी ने अछूतों के लिए क्या किया: मूल लेखक डा. अम्बेडकर, संकलन टिप्पणियां कुसुम मेघवाल, पृ. 30
12. डा. धर्मवीर, महान आजीवक कबीर, रैदास और गोसाल, वाणी प्रकाशन, 4695, 21 ए, दरियागंज, दरियागंज, दिल्ली, भूमिका, पृ. 01
13. बाबा साहेब डा. आंबेडकर, डब्लू एण्ड एस, खंड 4, पृ. 151
14. कश्यप, 'आदि भारत' (भारत का राजनीतिक व सांस्कृतिक विकास) प्रकाशक-वाणी विहार, बनारस, पृ. 67
15. डी. डी. कोसम्बी, एन इन्ट्रोडक्शन टु दि स्टडी ऑफ इंडियन हिस्ट्री, बम्बई, 1956, पृ. 68.
16. कंवल भारती, 'दलित धर्म की अवधारणा और बौद्ध धर्म' पृ. 24
17. डा. दीनानाथ वर्मा, विश्व इतिहास की झलक, ज्ञानदा प्रकाशन (पी.डी.) संस्करण 1995, पृ. 18
18. एम. व्हीलर, 'दि इंडस सिविलाइजेशन', हिस्ट्री ऑफ इंडिया का पूरक खंड, कैंब्रिज 1953, पृ. 18
19. डा. दीनानाथ वर्मा, विश्व इतिहास की झलक-ज्ञानदा प्रकाशन (पीडी), नई दिल्ली पृ. 9
20. Dravidian Encyclopaedia] Vol- 1] The international School of Dravidian Linguistics] St- Xavier*s College P-O- Thiruvananthapuram&695&086] First Edition] 1970 &18
21. भगवई: विआहपण्णत्ती: खण्ड-4: शतक (12-16) (मूल पाठ, संस्कृत छाया, हिन्दी अनुवाद, भाष्य तया अमय देव सूरिकृत वृत्ति

एवं परिशिष्ट-शब्दानुक्रम आदि सहित), संपा. और भाष्यकार, आचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्व भारती, लाडनूं राजस्थान-341 306, प्रथम संस्करण, अक्टूबर, 2007, पृ 313
22. राहुल सांकृत्यायन, प्रकाशक किताब महल, 22-ए, सरोजनी नायडू मार्ग, इलाहाबाद, संस्करण 2007, पृ. 375
23. डा. धर्मवीर, महान आजीवक कबीर, रैदास और गोसाल, वाणी प्रकाशन, 4695, 21 ए, दरियागंज, दरियागंज, दिल्ली, भूमिका, पृ. 05
24. Haripad Chakraborti] Asceticism in Ancient India in Brahmanical] Buddhist] Jain and Ajivika Societies ¹from the earliest times to the period of Sankaracharya°] Punthi Pustak] 136@4B] Bidhan Sarani] Calcutta&700 004] Reprint] 1993] p]460 Work is worship
25. -वहीं- च, 449-50
26. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश भाग।: (अ-औ) लेखक, क्षु. जितेन्द्रवर्णी, भारतीय ज्ञानपीठ, 18, इन्स्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नई दिल्ली-110 003, नौवां संस्करण, 2006, पृ. 201
27. वायु पुराण, अनुवादक, राम प्रताप त्रिपाठी शास्त्री, हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, 12 सम्मेलन मार्ग, इलाहाबाद, द्वितीय संस्करण, 1987, पृ.634
28. ए एल बाशम, हिस्ट्री एण्ड डॉक्ट्रीन्स ऑफ द आजीवीकाज (ए वैनिशड इंडियन रिलिजन) पृ.134
29. Haripad Chakraborti] Asceticism in Ancient India in Brahmanical] Buddhist] Jain and Ajivika Societies ¹from the earliest times to the period of Sankaracharya°] Punthi Pustak] 136@4B] Bidhan Sarani] Calcutta&700 004] Reprint] 1993] p]463 Work is worship
30. -वहीं- पृ. 470
31. -वहीं- पृ. 454-55
32. डा. धर्मवीर, महान आजीवक कबीर, रैदास और गोसाल, वाणी प्रकाशन, 4695, 21 ए, दरियागंज, दरियागंज, दिल्ली, भूमिका, पृ. 07-08
33. -वहीं-पृ.58
34. -वहीं- पृ.59
35. Haripad Chakraborti] Asceticism in Ancient India in Brahmanical] Buddhist] Jain and Ajivika Societies ¹from the earliest times to the period of Sankaracharya°] Punthi Pustak] 136@4B] Bidhan Sarani] Calcutta&700 004] Reprint] 1993] p]449&50
36. भगवई: विआहपण्णत्ती : खण्ड-4: शतक (12-16) (भूल पाठ, संस्कृत छाया, हिंदी अनुवाद, भाष्य तया अमय देव सूरिकृत वृत्ति एवं परिशिष्ट-शब्दानुक्रम आदि सहित), सम्पादक और भाष्यकार, आचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्व भारती, लाडनूं राजस्थान-341 306, प्रयम संस्करण, अक्टूबर, 2007, पृ. 313
37. Jataka(I) p- 390 and ए एल बाशम, हिस्ट्री एण्ड डॉक्ट्रीन्स ऑफ द आजीवीकाज (ए वैनिशड इंडियन रिलिजन) पृ. 10-111
38. ए एल बाशम, हिस्ट्री एण्ड डॉक्ट्रीन्स ऑफ द आजीवीकाज (ए वैनिशड इंडियन रिलिजन) पृ.113
39. Digha Nikaya ii] p-127
40. V- Supra] p- 62 and ए एल बाशम, हिस्ट्री एण्ड डॉक्ट्रीन्स ऑफ द आजीवीकाज (ए वैनिशड इंडियन रिलिजन) पृ. 275
41. -वहीं-p-64, 68 and-वहीं-पृ.275
42. -वहीं-p-131 and -वहीं-पृ. 117 P139-40
43. ए एल बाशम, हिस्ट्री एण्ड डॉक्ट्रीन्स ऑफ द आजीवीकाज (ए वैनिशड इंडियन रिलिजन) पृ. 107
44. Karom] The Life of Buddha] plate 110_ also] Barabududur] vol- i] pp 220&1] V- Supra] p-94
45. V- Supra] p-94 and , ,y ck'ke] fgLVªh ,.M MkWDVªhUl vkWiQ n vkthohdkt (, oSfu'kM bafM;u fjfytu) i`- 117
46. Dravidian Encyclopaedia] Vol-1] The international School of Dravidian Linguistics] St- Xavier*s College P-O- Thiruvananthapuram&695&086] First Edition] 1970 &18 Committed to principles
47. जिन-सूत्र: भाग-चार, ओशो, दिव्यांश पब्लिकेशन्स, एमआईजी-22, फेज-।, एलडीए टिकैत राय कालोनी, लखनऊ, उत्तर प्रदेश-226 017, प्रथम संस्करण, 2013, पृ. 96
48. -वहीं-पृ. 94
49. ए एल बाशम, हिस्ट्री एण्ड डॉक्ट्रीन्स ऑफ द आजीवीकाज (ए वैनिशड इंडियन रिलिजन) पृ.231
50. Niyativadi svábhiprayam aviskaroti- Sangaiyamti eamyak arapariramena gatih- Yasya yada yatra yat sukha&duhkh&anubhavanam oa sangatith- Niyatis tasyam bhavam sangatikam- Y atas c aivam na purugakar &adi&krtam sukha&dukkh`&ádi] atas tat leam prâninam niyati&krtam sangalikam ity uyate] Silânka to Sa- kr-] loc- cit लेखक ए एल बाशम, हिस्ट्री एंड डॉक्ट्रीन्स ऑफ द आजीवीकाज (ए वैनिशड इंडियन रिलिजन) पृ.227
51. अश्विनी कुमार पंकज, 'खाँटी किकटिया' (मक्खलि गोसाल के जीवन पर आधारित मगही उपन्यास), प्यारा केरकेट्टा फाउण्डेशन, रांची, 2018, भूमिका
52. डा. धर्मवीर, महान आजीवक कबीर, रैदास और गोसाल, वाणी प्रकाशन, 4695, 21 ए, दरियागंज, दरियागंज, दिल्ली, पृ.93
53. जिन-सूत्र: भाग-चार, ओशो, दिव्यांश पब्लिकेशन, एमआईजी-22, फेज-।, एलडीए टिकैत राय कालोनी, लखनऊ, उत्तर प्रदेश-226 017, प्रथम संस्करण, 2013, पृ. 98-9
54. -वहीं- पृ. 95
55. Dravidian Encyclopaedia] Vol- 1] The international School of Dravidian Linguistics] St- Xavier*s College P-O- Thiruvananthapuram&695&086] First Edition] 1970 &17&8 Popularity of Aajivakas and Anti Hinduism
56. ओशो, जिन-सूत्र: भाग-चार, दिव्यांश पब्लिकेशन्स, एमआईजी-22, फेज-।, एलडीए टिकैत राय कालोनी, लखनऊ, उत्तर प्रदेश-226 017, प्रथम संस्करण, 2013, पृ. 95-6
57. विकास दिव्यकीर्ति, यू-ट्यूब,Episode 4] ;w&VÔwc Episode 4] Charvak Philosophy% An Introduction
58. -वहीं-
59. -वहीं-
60. -वहीं-
---12772---
संपर्क: G-401, Habitat Apartments] Vasundhara Enclave, Delhi-110096

संतोष पटेल की कविताएं

शिक्षा: एम ए (अंग्रेजी, हिंदी भोजुपरी, ट्रांसलेशन स्टडीज और बुद्धिस्ट स्टडीज), एमफिल (अंग्रेजी) पीएच-डी (हिंदी)**संपादक :** भोजपुरी जिन्दगी, डिफेंडर। **सम्प्रति :** असिस्टेंट रजिस्ट्रार(सतर्कता) दिल्ली कौशल एवं उद्यमिता विश्वविद्यालय, दिल्ली सरकार, नई दिल्ली। **प्रकाशन :**हिंदी और भोजपुरी साहित्य में कविता व आलोचना में हस्ताक्षेप, **संपादन :** समकालीन दलित कविता (भोजपुरी काव्य संग्रह)
पता-आर जेड एच 940 राजनगर -2 पालम कॉलोनी नई दिल्ली-110077
संपर्क 9868152874 bhojpurijinigi@gmail.com

आत्म-विच्छेदन

1

कुछ लोग काट देते है उपनाम
अपने नाम के पीछे से
ताकि जगजाहिर कर सके कि
वे हो गए जातिविहीन
'डीकास्ट'
लेकिन उपनाम काट देने की प्रक्रिया
वैसी ही होती है
जैसे छिपकली द्वारा पूंछ त्याग देने की
लेकिन सबको पता है
आ जाती है छिपकली की पूंछ फिर से
वैसे है उनके नाम के पीछे का उपनाम
जुड़ जाता है समय के बदलते
तमाम तरह के जातीय दंभ से
भेदभाव से।
बिहार को ऐसे कोसता है
मानो बिहार के अलावा और कहीं
नहीं है जातिवाद
फिर दुखी मन से कहता है वह
वहां से कभी जाति जा ही नहीं
सकती।
जबकि सत्य यह है कि उसके
नस नस में
रग रग में
दौड़ता है
जातीय भेदभाव का खून
दिमाग में बड़े होने का फितूर
बिहार से बाहर रहने पर भी
उसके अंदर का कीड़ा मरा नहीं है
समय पाते ही वह छिपकली की पूंछ
तरह
जोड़ लेगा अपना उपनाम।

बाबा साहेब के नए दिवाने

नए दिवाने हटा देते हैं
बाबा साहेब की तस्वीर
अपने कार्यालय की दीवारों से
और विद्यालयों के कक्षाओं से
और लगा देते हैं तस्वीर
अपने देवतुल्य नेताओं की ।

नए दिवाने नहीं लगने देते
बाबा साहेब की मूर्तियां
न्यायालयों के प्रांगण में
करते हैं जबरदस्त विरोध
इस बात को लेकर देश भर में।

नए दिवाने तो बाबा साहेब को
खारिज करने में लगे रहते हैं दिन रात
कहते हैं नहीं वे संविधान निर्माता
हर रोज लाते एक नए चेहरे को
घोषित करते हैं यही है असली
इन्होंने ही लिखा था संविधान।

नए दिवाने पीट रहे हैं छाती आजकल
जैसे उनको लग गया हो गौ हत्या का दोष
तब जब किसी समर्थक ने
लालू प्रसाद के पैरों के सामने
रख दिया बाबा साहेब की तस्वीर
दिवाने भीतर तक आहत हैं
आहत में मीडिया के सारे एंकर हैं

इसी बात को लेकर
बस क्या था नए दीवाने
रूदाली बने हुए हैं जैसे
इनके इष्ट देव के सम्मान में कुछ कमी हो गई हो
तब जब बाबा साहेब के समस्त संस्थाओं में
आजकल होती हैं तमाम बातें
छोड़कर बाबा साहेब के सिद्धांतों को।

सच तो यह है कि
ये नए दिवाने ना कभी
बाबा साहब के थे
ना होंगें
क्योंकि बाबा साहेब के समानता के सिद्धांत को
समरता में बदलने में लगे हुए हैं ये देश के
आजादी के बाद से।

अमीबा !

अमीबा!
तू कहां नहीं पाया जाता
नदी, तालाब, पोखर में
मीठे जल की झील में और खोखर में
पानी के गढ्ढे में और खाई में
गीली मिट्टी और गीली हरी काई में।
अमीबा !
तू जन्मजात है परजीवी
आत्मकेंद्रित, महीन आत्मजीवी
संवेदनहीन, हृदयहीन और रंगहीन
जिस रंग में ढलना चाहते हो
ढल ही जाते हो
क्या दाहिना, क्या बायां
मिलते अपना निवाला
सीधा निगल जाते हो।
अमीबा !
साबित हो गया कि
ऊर्ध्व गमन में तुम हो माहिर
खेल करते हो जैसे हो कोई साहिर
तू रोगकारी और विकारी
भरी है तुझमें केवल मक्कारी
इतनी बेशर्मी के बावजूद
अपने को बना रखे हो देवता'

'प्रोटियस ग्रीक शब्द है जो अमीबा से जुड़ा है जिसका अर्थ है समुद्री देवता।

सुनील कुमार कर्दम की ग़ज़ल

शैक्षिक योग्यता-आगरा विश्वविद्यालय से M.Sc., B-Ed.

संप्रति -जूनियर हाईस्कूल में प्रभारी प्रधानाध्यापक के पद पर कार्यरत

साहित्यिक गतिविधियाँ

1-अनेक प्रांतों में काव्य मंचों से काव्य पाठ 2-आकाशवाणी व दूरदर्शन केद्रों से निरंतर गीत,गजल व कविताओं का प्रसारण **विशेष**-1-कोरोना काल की कविताओं, सोच जैसी अनेक पत्र पत्रिकाओं में गीत गजल कविताओं का प्रकाशन 2-गजल संग्रह एवं मुक्तक संग्रह प्रकाशित होने के लिए तैयार है। 3-विभिन्न साहित्यिक मंचों द्वारा सम्मानित

पता-C189 नरसी विहार सिटी मथुरा संपर्क सूत्र- 9927125258/7906888291

टपकती छान में करते बसेरा देखिये

टपकती छान में करते बसेरा देखिये
कभी चलकर हमारे घर सवेरा देखिए।
कुपोषण के सताये लोग रहते हैं यहाँ
गरीबों के घरों में दु:ख घनेरा देखिए।
नहीं हैं दूर हमसे राजधानी देश की
मगर दीपक तले रहता अँधेरा देखिये।
कहीं पर नालियों में रोज खाना फिक रहा
कहीं पर भूख से मरता कमेरा देखिये।
मुसीबत लाख आयीं सामने अपने मगर
डिगा ना एकपल विश्वास मेरा देखिए।
किसी से जीत जाते हैं किसी से हारते
बदलते वक्त का ऐसा ये फेरा देखिए।
छुपा है वेश में जो साधु के कर्दम यहाँ
वही है देश का शातिर लुटेरा देखिए।

मैं कोई गीत गाऊँ

मैं कोई गीत गाऊँ तुम्हारे लिए
प्यार के गुल खिलाऊं तुम्हारे लिए।
तुम कदम दर कदम साथ दे दो मेरा
चाँद को तोड़ लाऊँ तुम्हारे लिए।
तुम महकती रहो मंजरी की तरह
भृंग सा गुनगुनाऊँ तुम्हारे लिए।
तुम बनो जो शमाँ मैं पतंगा बनू
रोज खुद को जलाऊं तुम्हारे लिए।
जिंदगी के लिए हो बहुत खास तुम
सारे नखरे उठाऊँ तुम्हारे लिए।
तुम अंधेरों में लिपटी हुई चांदनी
बन उजाला मैं आऊँ तुम्हारे लिए।
आँच कर्दम कभी आप पर आयी तो
लड़ जहां से मैं जाऊँ तुम्हारे लिए।

आँखों में तूफान लिए

आँखों में तूफान लिए फिरते हैं हम।
दिल में कुछ अरमान लिए फिरते हैं हम।।
निज मंजिल आसान नहीं पर जाना है।
मन में ये आह्वान लिए फिरते हैं हम।।
बुद्ध भीम की राहें जबसे अपनायी।
हर दु:ख का अवसान लिए फिरते हैं हम।।
सीख गए हैं थोड़ा सा पढ़ना लिखना।
पंचशीलों का ज्ञान लिए फिरते हैं हम।।
अन्याय नहीं हो पायेगा अब निश्चित है।
हाथों में संविधान लिए फिरते हैं हम।।
कौन कहाँ भोकेगा ये भी मालूम है।
स्वानों की पहचान लिए फिरते हैं हम।।
जन्म लिया है इस भारत की माटी में।
देश प्रेम का भान लिए फिरते हैं हम।।
होगा गर आदेश कटा देंगे सर को।
मुट्ठी में अब जान लिए फिरते हैं हम।।

नफरत

सोने की चिड़िया था भारत अब नफरत का बाज है।
आपस में ही जंग हो रही तबियत अब नासाज है।।
हिन्दू को हिन्दू से नफरत नफरत सिक्ख ईसाई से।
जैन और बौद्धों से नफरत नफरत मुस्लिम भाई से।।
तीनों वर्णों को नफरत है चौथे की परछाई से।
बनी दूरियाँ आपस में ही इस नफरत की खाई से।।
नफरत की ऐसी उलझन में उलझा पडा समाज है।
आपस में ही जंग हो रही तबियत अब नासाज है।।

नफरत के पौधे को जिसने सींच सींच कर बड़ा किया।
उसने भारत की समता पर प्रश्नचिह्न एक खड़ा किया।।
उसने गाली दे डाली है भारत की संप्रभुता को।
उसने गाली दे डाली है ममता और बन्धुता को।।
उसने गाली दे डाली है भारत के कानून को।
उसने गाली दे डाली है जनमत जोश जुनून को।।
ऐसे ही लोगों के सर पर गिरनी अब तो गाज है।
आपस में ही जंग हो रही तबियत अब नासाज है।।

मानवता का पाठ पढाती कविताओं से नफरत है।
और समता का ज्ञान कराती कविताओं से नफरत है।।
नफरत रहती जिन लोगों को दलितों सम्मान से।
वो ही नफरत करते हैं इस भारत के संविधान से।।
नफरत ने सीमाएं तोड़ी तोड़ा भाईचारे को।
नफरत ने ही किया खोखला भारत देश हमारे को।।
नफरत से नफरत को जीतो ये इनका अंदाज है।
आपस में ही जंग हो रही तबियत अब नासाज है।।

मैंने भी सपने देखे थे थोड़ा कुछ पढ़ जाऊँ मैं।
संविधान का लेके सहारा आगे कुछ बढ़ जाऊँ मैं।।
और उन्हें समझा पाऊँ मैं लोकतंत्र की परिभाषा।
तोड़ रहे हैं जो मर्यादा बोल रहे हिंसक भाषा।।
जिनकी बोली भी गोली से घाव अधिक कर जाती है।
जिनकी झूठी बातों से सच्चाई भी डर जाती है।।
ऐसे ही झूठों लोगों को सबक सिखाना आज है।
आपस में ही जंग हो रही तबियत अब नासाज है।।

कोई जुल्मी जुल्म करे चुपचाप उसे सह जाऊँ मैं।
बिना दिलाये दण्ड उसे खामोश खड़ा रह जाऊँ में।।
और किसी अन्यायी का अन्याय नहीं लिख सकता मैं।
तो अपनी कविता से शायद न्याय नहीं कर सकता मैं।।
मेरी कविता वर्तमान के परिदृश्यों का वर्णन है।
मेरी कविता मानवता और आदर्शों का वर्णन है।।
मेरी कविता हर शोषित और पीड़ित का अल्फाज है।
आपस में ही जंग हो रही तबियत अब नासाज है।।

सिर्फ दिखावा देश प्रेम का नहीं चलेगा जी सरकार।
अब तो तुम्हें रोकना होगा जातिवाद का अत्याचार।।
करके खत्म नफरतें सारी प्यार सिखाओ जनजन को।
भेदभाव के सिग्नल तोड़ो गले लगाओ जन-जन को।।
फिर से प्रेम मौहब्बत बरसे मेरे भारत देश में।
अमन शान्ति सदा रहे और रहे सुकूँ परिवेश में।।
सीमाओं पर युद्ध रुके ये हर दिल की आवाज है।
आपस में ही जंग हो रही तबियत अब नासाज है।।

कथा-कहानी मंच

लखिया की मतारी से दुलारी तक

जनार्दन

सहायक प्राध्यापक, हिंदी एवं आधुनिक भाषा विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज, उत्तर प्रदेश।

गोंड आदिवासी समुदाय में जन्म। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में में आलेख, कविता, कहानी और अनुवाद कार्य प्रकाशित।

'लडकी जात रेंड़ की तरह बॉस-बरेड़ हो जाती है। पैदा होते ही घास-फूस की तरह बढ़ने लगती है। बढ़ने की हूब में वह मतारी-बाप की छाती का पत्थर बनती जाती है। अट्ठारह बरस की हो रही है लखिया। जोग लईका मिलल बा, अबकी हाथ पियर होए के चाही, चाहे जैसे भी हो।" लखिया की मतारी जल्दी-जल्दी गठरी बांधती जा रही थी और मन में बुदबुदाती जा रही थी। रामदयाल बो काकी, रामसुन्नर के भौजी, बेचू के माई, नंदलाल की मझलकी भौजी, लोकई, बुद्धू, रामहरख, बदलू, नरोत्तम, और बेचन की मेहरारू सब की सब तुल्ली सिंह के ट्रैक्टर पर बैठ कर लखिया की मतारीको जोह रही थीं।

गठरी में आटा, नमक, मिर्चा और आलू-प्याज रख कर लखिया के सर पर रखती हुई लखिया की मतारी हुंकार भरते बोली-"जल्दी चल लखिया। अपने दादा और भाई को समय से खिया-पिया देना। और हाँ मैनी और भूरी को चारा-पानी देना मत भूलना। लल्लू के काका से आठ दिन पर दूध का पैसा लेना मत भूलना। सारा पैसा गुल्लक में रखते जाना।" लडकी को समझाते-बुझाते लखिया की मतारी ट्रेक्टर के पास पहुँच गई। लखिया ने गठरी ऊपर थमा दिया। रामसुन्नर की भौजी गठरी थाम कर रख ली। दो-तीन औरतों ने हाथ बढ़ा दिया लखिया की मतारी ट्रैक्टर पर बैठ गई। हारन बजाते हुए ट्रैक्टर ढक-ढक करते आगे बढ़ने लगा। जैकरुल्ला की माई ने जयकारा लगाया-"बोलो बनसत्ती माई की?"

समवेत स्वर-"जय, जय..."

जैकरुल्ला की माई ने फिर जयकारा लगाया-"बोल्लो बाबा मौज डीह की?"

समवेत स्वर-"जय, जय..."

पूरे उल्लास से ट्रैक्टर गाँव से बाहर निकल गई।

सुक्खम-दुक्खम होते-हवाते दो-ढाई घंटे में ट्रैक्टर नदी के किनारे वाले इलाके में पहुँच गई, जहाँ सैकड़ों एकड़ खेत में आलू लगे हुए थे। औरतें ट्रैक्टर से उतरने लगीं। कमासुत औरतों के लिए कास्तकार ने बहुत बड़ा छाजन बना दिया था। यह पुआल की बड़ी से मड़ई की तरह थी, मजदूर औरतों को रहने-ठहरने की व्यस्था थी।

लखिया की मतारी, रामदयाल बो

काकी, रामसुन्नरकी भौजी, बेचूकी

माई, नंदलाल की मझलकी भौजी, लोकई, बुद्धू, रामहरख, बदलू, नरोत्तम, बेचन की मेहरारू और जैकरुल्ला की माई ने एक जगह पुआल डालकर लेवा-गुदड़ी बिछा दिया। कमासुत मजदूर औरतों की गृहस्थी बस गई। कामधाम का आसरा अंजोर हो गया।

दिन कम पड़ता जा रहा था। रात जबरजंग होती जा रही थी। अंधकार के सागर में गागर-सा सूरज डूबने की फिराक में था। पूरब में मटमैले चकत्ते-सा चाँद पूरे दल-बल के साथ हल्का-हल्का दिखने लगा था। अगले दिन से आलू निकालने का काम शुरू होने वाला था। कमासुत औरतें फुर्सत में थीं। छाजन के सामने कई खाली खेत थे। उन्हीं खेतों में अपने-अपने हिसाब से अहरा जोड़ लिया गया। एक खेत में सैजन, और कचनार के पेड़ थे, पेड़ों से सटा एक पक्का नारा (कुआं) था। वहीं से पानी आ रहा था। अलग-अलग गोल की औरतें आलू-प्याज, मिर्चा-नमक और आटा गूँथने में लगी हुई थीं।

लिट्टी-चोखा बनरहा था। लखिया की मतारी और उसकी सखियाँ बतकही में मशगूल थीं। गाँव-गिराव की बातें चल पड़ी थीं।

रामदयाल बो काकी कहती भई-"जेकरपवित्तर पानी में नहात-धोवत जिनगी बितल, चला-चली के बेला में वह आधार छिन गईल। गावं-गिराव के पद-पानी बिला गईल।" बात पूरी करते-करते रामदयाल बो काकी की आँखें नम हो गई।

"सही कह रही हो काकी, भंडारी माई के पोखरा हम जनानियों की गंगा मैया रहा। तीज-कजरी, फगुआ और तर-त्योहार में हर जनानियों का असरा था वह पोखरा। हम औरतन के पानी हर लिया बकालू सिंह का कपूत।" गुस्से से नन्दलाल की मझली भौजी बोली।

"आउरनाहीं त का। निपुती (बेऔलाद) भंडारी माईने आपन सवा सौ बिगहा कांटे के जमीन से सात गाँव को जल से सींच दिया था। मानुष के साथ-साथ पशु तक आशीष देते थे।" जैकरुल्ला की मतारी बोली।

ओहरा लहक रहा था। गोल-गोल लिट्टी लहकते उपलों पर धरे जा रहे थे। आलू, भंटा और टमाटर आग से बहार निकाल कर पानी से भरी बाल्टी में डाल दिए गए। कई कमासुतनें आलू, बैगन, और टमाटर छिलने में लग गईं। नन्दलाल की भौजी नमक-मिर्च और धनिया बुक (पीस) रही थी।

बिटिया-पतोह वाली जेठ कमासुत औरतें बतकही में लगी हुई थीं।

रामदयाल बो काकी बोल उठीं-"का-का दान दहेज सहेजी हो लखिया खातिर?"

"दान-दहेज की नहीं, परेम की बात है। लड़का को लड़की पसंद है।" लखिया की मतारी ने जवाब दिया।

खाली परेम से बात नहीं बनती है। सुनने में आ रहा है की लड़का छोटी जात का है। अबकी बेचू की माई ने टोका।

"छोटजतिया जरूर है, मगर घर में ट्रक्टर और चौराहे पर आटे-तेल की चक्की है। रानी बनकर रहेगी लखिया।" रामसुन्नर की पतोह ने दिल्लगी की।

"रूप रंग, रुपया-पैसा और धन-दौलत से जात नहीं बदलती। लड़की इज्जत होती है। मैं तो कहती हूँ कि थोडा नरम-गरम ही सही लखिया का जात निकाला मत कर लखिया की मतारी। बिन बाप की बेटी को बिन जात की मत कर। बिना बाप के तो पल गई, बढ़ गई, मगर जात-गोत से बाहर होकर न जी सकेगी, न मर सकेगी।" बात पूरी करते-करते रामदयाल बो काकी काँपने लगी।

"लखिया बिना बाप की बेटी नाय। ओकर बाप साधू बन गया, आए या न आए, मगर जिंदा है।" लखिया की माई की आँखें भर आई।

"जिन्दानाय, वह मर गया है। मेहर-बिटिया को छोड़ने वाला मरद जनखा होत है, जनखा मरद, नहीं मुर्दा होत है।" रामदयाल बो काकी दहक उठीं।

"आखिर का बात भया, काहे लखिया के बाप घर-गृहस्थी छोड़ साधू बन गए। एतना पानीदार आदमी, एतना बे-पानीदार काहे हो गया।" जैकरुल्ला की माई ने दहकते फोड़ा पर हाथ धर ही दिया आखिर में।

"का बताई बहिन, बस ई जान ल कि गरीबी हमके और लखिया के बाप के बे-पानी कर देहलस। अइसन घाव लगल बा कि न देखावत बने, न दबवात।" लखिया के मतारी के आँख भर आई। मोटे-मोटे आंसू गाल पर ढुलक आये।

"आवासभे खा ल। खाना तैयार हो गईल।" नरोत्तम की मेहरारू ने आवाज दिया।

सारी कमासुत खान-पियन में लग गईं। घंटे भर खान-पियन का कार्यक्रम चला।

◆◆◆

भोर होते ही काश्तकार का कारिंदा

भोला लठैत लाठी लेकर कमासुत औरतों के डेरे पर आ पहुंचा। पहुँचते ही हॉक लगाने लगा- "अरे! उठा हो सब जन। भगवान भाष्कर आकाश में आवे वाला बाड़न। पूरब दिशा ललछौह हो रहल बा। आज बोहनी के दिन बाटे, जगा हो औरत लोगन।"

कमासुत औरतें जागने लगीं। लोटा लेकर कलकलिया नदी के किनारे बढ़ गईं। दखिनहिया की तर हवा बह रही थी। "दखिनहिया की हवा से तन तर हो गईल।" अपनी बाँहों को सहलाते हुए (मानों हवा को तन पर मल रही हो) नन्दलाल की मझिलकी भौजी बोली।

"ठीक कहती हो बहू इससे तन तो शीतल हो जाता है, मगर मन की आग पर कोई फरक नहीं पड़ता।" नन्दलाल की मझिलकी भौजी को टोकते हुए लखिया की मतारी बोली।

लखिया की मतारी की बात सेलोकई, बुद्धू, रामहरख, बदलू, नरोत्तम और बेचन की मेहरारू आँखों आँखों में हँसने लगीं।

दिशा-मैदान होते-हवाते झलफलाह (सूरज उगने का समय) हो गया। कुदाल, फावड़ा और दौरी (टोकरी) लेकर कमासुत औरतें खेत में हल गईं। आलू की खनाई शुरू हो गई। झमा-झम काम होने लगा। बड़ी आबाद फसल थी। माटी की हूब बड़े-बड़े सुडौल आलू के रूप सामने थे। किसान खुश थे। तुल्ली सिंह के दादा खेत के किनारे बैठ कर भजन गा रहे थे-

चरन पकड़ धीया रोए,
बाँह पकड़ भाई,
भंवरवा के तोहरा संग जाई,
चरन पकड़।।।।

बुद्धू की मेहर नई-नई थी। चार महीने पहिले गौना हुआ था। बुधुआ बाप का कर्ज उतारने की वास्ते दूर शहर में कमाने गया था। वही बुद्धुआ की मेहर लखिया की मतारी का निहोरा करते कही- "अम्मा कलकलिया नदी के गीत हो जात त काम होत, आउर समय भी कट जात।"

"कलकलिया के गीत बड़ा करमखोर गीत है बहू। ओकरे जीवन में राग नहीं, बिराग है। बहू-बेटी के लायक नहीं बा वह गीत।" लंबी साँस लेती हुई लखिया की मतारी कही।

"अम्मा हम औरतन के किस्मत कलकलिया नदी से जुदा थोड़े बा। आप गीत कढ़ा देहीं। हम सब साथ देंगी।" बुद्धू की मेहर ने पूरे विश्वास से कहा। दूसरी कमासुत औरतें भी बुद्धू की मेहर की हाँ में हाँ मिलाई।

लखिया की मतारी ने गीत छेड़ दिया-

धड़के लागलपथरवा हो
सखी करेजा बन के
नाचे लागलमोरनिया हो
सखी उमंग में भर के
बहे लागलपथरवा हो।।।।
सखी पानी बन के
गमके लागल मनवा हो
सखी प्यार बन के।।।।
सोनाखान आवेलगलें
सखी बनके फूल कुमार हो
महके लागल जंगल जोहर हो
धड़के लागल।।।

कलकलिया के किनारे के खेत-क्यारियाँ गीत और किस्सों से भर गई। गीत को छेड़कर लखिया की मतारी कलकलिया नदी की कथा शुरू कर दी-"सात पुश्त बाद नौलखा पहाड़ और बन सत्तीमाई के आँगन में बेटी पैदा भई। निपुती पहाड़ के घर आंगन खुशी से भर गईल। जंगल-पहाड़ में सोहर गए जाये लगल। काले खां कोतवाल भी तलवार रखकर अल्लारखा गावे लागलें। बेटी की पैदाइश से सोलहों दिशाओं में कल-कल, छन-छन होवे लागल। नौलखा और बन सत्तीमाई बेटी के नामकलकलिया रख देहलन।। कलकलिया के आवे से धरती माई पर चाँद-सितारा उतर अईलन।

गीत-गवनई होती रही काम भी होता रहा।" कलकलियाके किनारे कलकलिया की कथा कही जा रही थी। लखिया की मतारी आगे कहती भई-"कलकलिया ठहरी लईकी जात। रेड़ की तरह बढ़ती गई। सोलह साल होते-होते सोनवा लोहार के लड़िकासोनाखान एक बार बाँसुरी बनाने के लिए बाँस चुनने के वास्ते जंगल आया।" इतना कहते हुए लखिया की मतारी गाते हुए कथा आगे बढाई-

उलझ गयलनयनवा हो बीच मझार में
सोनाखान लागे लगलन सजनवा हो
समवेत स्वर-*बीच मझार में।।।*
कलकलिया नाचे लगलींजसमोरनिया हो
समवेत स्वर-बीच मझार में।।।

लखिया की मतारी कथा कहने लगी-सोनाखान और कलकलिया की आँख लड़ गई। बात बढ़ गई। लोहार के लईका पहाड़ की लईकी से देर-सबेर मिलने-जुलने लगा। जंगल के कान खड़े हो गए। बात की जात अजब, वैसे भी आग लागी, त धुआं उठबेकरी। बात पहुँचते-पहुँचते नौलखा पहाड़ तक पहुंच गईल। नौलखा पहाड़ और बनसत्ती दोनों को विश्वास नहीं हुआ। फिर भी जंगल पहाड़ के कोतवाल काले खां को कलकलिया पर नजर रखे के वास्ते

कह दिया गया। पहाड़ की बेटी पर नजर रखा जाने लगा।

प्यार-मोहब्बत पर नजर की खबर कलकलिया और सोनाखान को लग गईल। अब वे दोनों सतर्क हो गईलन। पर बिना मिले रहा भी नहीं जा रहा था। एक दिन कलकलिया ने अपने सखी पियरी से सोनाखान को संदेश पठवाया। पियरी ने सखी की बात जस-की तससोनाखान तक पंहुचा दिया–

सखुआ के फूल से कईलीसिंगर
तन अस दहके जसलुआर
पिया बिन नीक न लागे
जल-जंगल दुआर
सखुआ के फूल...।

कलकलिया का संदेश पाकर सोनाखान व्याकुल हो गया। उसकी व्याकुलता को उसके मित्र मणिलाल से छुपी न रह सकी। मणिलाल ने सोनाखान को एक उपाय बताया-"तूँ दोनों जना का प्रेम बादल के पानी की तरह टटकाहो। जैसे बादल का करेजा फटता है, तब धरती ठंढा होती है। तुम दोनों का करेजा फट रहा है। तूँ दोनों जना को मिलना होगा। मिलन का रास्ता है। तुम जानते ही हो की नौलखा और बन सत्ती पहाड़ के बीच में जोगिया बरगद का विशाल पेड़ है। उसके लट को पकड़ कर जलकुण्डीभुईधरा के पास तुम दोनों मिला करो किसी को कानों कान खबर न होगी। काले खान कोतवाल हाथ मलता रह जाएगा।"

इतना कहकर लखिया की मतारी सुस्ताने लगी। कमासुत औरतों को कहानी का मजा मिल चुका था। कुछ समय तक सब शांत रहीं, मगर जब लखिया की मतारी कुछ न बोली, तब बुद्धू की मेहर बोली–"आगे का भया, हे अम्मा?"

गला साफ करके लखिया की मतारी कहानी की डोर थाम ली–

''सोनाखान का संदेश कलकलिया तक पहुँच गया। सात दिन सात रात बाद नौलखा और बनसत्तीमाई को सगोतिया पहाड़ के घर जाना था। कलकलिया को काले खान कोतवाल की निगरानी में रख कर नौलखा और बनसत्तीमाई निकल गए। इसी बीच कलकलिया और सोनाखान का मिलना तय हुआ। सारा तय-तमान कई दिन पहले ही हो गया था।

आधी रात का बखत। बनसत्तीमाई पहाड़ और नौलखा पहाड़ के बीच बहुत गहरी खाई थी। इसी खाई में जलकुण्डी का सोता था। और खाई के बीच में जोगिया बरगद खड़ा था, जिसकी शाखाएं जटाओं की तरह दोनों पहाड़ों को जोड़ रही थी। दूर से देखने पर जोगिया बरगद दढ़ियल साधू की तरह लगता था।

कलकलिया जलकुण्डी के पास एक पत्थर पर बैठी थी। जोगिया बरगद से छन-छन कर चांदनी हिल-डुल रही थी। जलकुण्डी के सोते में पानी सीसे सा चमक रहा था। दोनों पहाड़ों के चारो ओर पहरा था। नंगी तलवार लेकर कालेखान खुद पहरे पर था। जमीन पर पहरा जान कर सोनाखान जोगिया की जटाओं के सहारे जलकुण्डी में आने की सोचा।

बन सत्तीमाई की ओर से जोगिया बरगद की डोरी सी लटकी जटाओं को पकड़ करसोनाखानजलकुण्डी की ओर बढ़ रहा था। रात का बखत और मोटी-पतली डोरी के समान शाखाओं पर पकड़ बनाते हुए कई बार डार से हाथ फिसलते-फिसलते बचा। नीचे सैकड़ों पोरसा की खाई, प्राण कंठ को आ गया। मगर मिलने की आश हिम्मत देता रहा। ऐसे ही बचते-बचाते वह आधा रास्ता तय कर लिया। शाखाओं और डालियों से होते हुए सोनाखान जोगिया पेड़ के एक ताने के पास पहुँचने ही वाला था, तभी हाथ में सुई सा कुछ चुभा, थोड़ी ही देर में सर घुमने लगा, आँखें भरी होने लगीं। पकड़ ढीली पड़ गई। सोनाखान सैकड़ों पोरसा नीचे गिर गया।

नीचे पड़े सोनाखान को देखते ही कलकलिया दहाड़ मार कर चीख पड़ी। दर्द की आवाज पूरी घाटी में गूँज गई। कालेखान के लोग जलकुण्डी की ओर बढ़े, उनके आने तक जलकुण्डी का सोता फूट पड़ा था। लोग कहते हैं कि कलकलिया और सोनाखान का दुःख देखकर जलकुण्डी का हिरदय फट गया और वह पानी बन गई और वहां से एक नदी बहने लगी। सोनाखान को लेकर कलकलिया नदी में कूद पड़ी। काले खान हाथ मलते रह गया। तभी से जलकुण्डी का नाम मारकुंडी और नदी का नामकलकलिया पड़ गया।'' इतना कहकर लखिया की मतारी चुप हो गई।

काम तो होता रहा। मगर सब कामासुतदुःख में डूब हुई थीं

काम होने के बाद सब डेरे में आई। खाना पीना हुआ। रात गहरा रही थी। पलकें भारी होने लगीं। धीरे-धीरे थकान और कहानी के दुःख से दुखी हृदय को नीद ने अपनी गोद में ले लिया।

दिन हुआ। कमासुत औरतें काम पर गई और सारा दिन काम करती रहीं। धीरे-धीरे सूरज डूबने लगा था

और दिशाओं में अँधेरा भरता जा रहा था। कमासुत औरतें अपने रहवास में आ चुकी थीं। लखिया की मतारी के साथ कुछ औरतें कलकलिया की ओर बढ़ चलीं। लाल-लाल किरणें कलकलिया पर लप-दप, लप-दप कर रही थीं। रामसुन्नर की भौजी ढलते सूरज और कलकलिया को देखते बोली–"बड़ी अभागन नदी हवकलकलिया, गंगा माई से न मिलकेजर्गो बंधा में मिल जाले। लोग कहेलन कि शाप के कारण ई होला।"

"कलकलियाअभागन नहीं हव। एकर गंगा और तीरथ, दोनों सोनाखान का चौराहै। सोनाखानको छूकर कलकलिया तर जाती है। सोनाखान ही उसका मोक्ष है।" कलकलिया का पानी छूते हुए नन्दलाल की मझिलकी भौजी ने कहा।

चारोकमासुत औरतें कलकलिया में हाथ-मुंह, गोड-हाथ धोकर और थोड़ी देर तक वहां बैठ कर जीव आन-मान करके डेरे की ओर बढ़ गईं।

बहु-बहुरिया खान-पान बनाने में लगी थीं। राम हरख की दुलहिन राग छेड़ दी थी–

आंच भईलजमनवा
नीक ना लागे सखी भवनवा
नद्दीदुबरभईल
काटे लागलसिवनवा
जियल दूभर भईल
रात भईलअन्हार
सखी प्रेम काहे लागल व्यापार
कहाँ बाटें सजनवा
जोग से जोग जुड़े करमवा
जुड़ा बनवली
काजरलगवली
सेज सजवली
काहे रुठलसेन्हुरवा
आंच भईल...

रामहरख की दुलहिन का दु:ख पूरे सिवान में फैल गया था। नदी-नार और पेड़-पौधे रो रहे थे। कलकलिया शांत बह रही थी, जिसे देखकर लगा, मानों वह भी रामहरख की दुलहिन की बिरह पुकार सुनकर कलप उठी हो। कलकलिया की ओर गई औरतें रामहरख की दुलहिन का वियोग सुनकर खुसुर-फुसुर करने लगी थीं।

"जब से कमासुत परदेश गईल। तब से रोवतरहिले। सोना जैसन तन, माटी हो गईल। अरमान में आग लग गईल।" बाबूलाल बो काकी कह उठीं।

"हम औरतन के सबसे बड़ दुश्मन ई गरीबी हरजाई है। यही अहिवात औरतन के अभागनबनावेले। कोई के आदमी साधू हो जालें, और कोई के मनसेधू परदेशी। हमारसवत ई गरीबी बाटे। जब तलक एकरा से मुक्ति ना मिली, तब तलक हमहन के अरमान माटी होत रही।" लखिया के मतारी एक साँस में बोल गईल। जैसे बाढ़ के नदी पानी-बुन्नी के दिन में छोट-मोट अवरोध तोड़ के बहे लागेले।

ठंडी हवा बह रही थी। दिन-भर की हाड़-तोड़ मेहनत के बाद ठंडी-ठंडी हवा कमासुत औरतों को राहत देने में लगी थी। कुछ औरतें आँचल नीचे ढलका दी थीं। शीतल पवन पोर-पोर में समां रहा था। आलू छिलते-छिलते लोकई बो कहने लगी–"बियाह होते ही मुसीबत शुरू, बाल-बच्चा के जनम-मरण, सास-ससुर के हरज-गरज और देवर-देवरान के शादी–बिआहकरत-धरत शरीर माटी हो जाला। आदमी के जनम में कितना करम लिखल बाटे हे बिधाता।"

धीरे-धीरे रात करवट लेने लगी थी। अंधेरा फैल रहा था। लोकई बो की बात सुनकर कमासुत औरतें कुछ समय तक खामोश रहीं। थोड़ी देर बादबेचन की मेहरारू बोली–"एकर उपाय हय। बस ध्यान देवे के जरूरत है।"

"का उपाय बा? तू ही बतावा।" लोकई बो तुरंत पूछ बैठी।

"एक-दूसरे के काम आवे से बेहतर कौन उपाय हो सके। एक-दूसरे के भरोसा बने के चाही।।।" बेचन की दुलहिन बोली।

"नीमन बात कहलू हे बेचन के दुलहिन।।।" सहमती जताते हुए रामदयाल बो काकी बोलीं।

"कुल बात तो ठीक बाटे, मगर मरद के न रहले के दु:ख कैसे कटी हे अम्मा।" अबकी नरोत्तम बो ने मसखरी किया।

नई उमर की अहिवात औरतें हंसने लगीं और पुरनिया औरतें मंद-मंद मुस्कराने लगीं। थोड़ी देर के लिए औरतों ने दु:ख को ठेल कर दूर भगा दिया। दु:ख दूर हट कर दु:ख में फंसी औरतों की दीदा पर अचरज कर रहा था। चाँद-तारों से भरा आकाश धूलो-माटी में काम करने वाली मामूली औरतों को बड़े ध्यान से टुकुर-टुकुर ताक रहा था।

खान-पान होने के बाद सारी औरतें पुआल को ठीक से बिछा कर कुछ बैठ गईं और कुछ लेट गईं। सुख-दु:ख से होते हुए बात किस्से-कहानियों तक चल निकली। राम सुन्नर की पतोहू की बात चल निकली। नरोत्तम की मेहर कहने लगी–"राम सुन्नर के मेहरारू के दु:ख देखलनाही जाला। मनसेधू

बाहर परदेश में तीन साल से रहत बा। घर में देवर के नियत बेईमान हो गईल बा। आजकल फिर दाई के आना–जाना बढ़ गईल बा। बेचारी रात–दिन कलपतरहेले।"

"बात तो सही है। मगर एम्मा राम सुन्नर बो के भी गलती, है ।" नरोत्तम बो काकी कहती भई।

औरतों के कान खड़े हो गए।

"राम सुन्नर बो के गलती!! वह कैसे अम्मा ?"बेचन की मेहर ने सवाल किया।

"ससुराल में आते ही अलगौझी करा बैठी ताकि जेठ के तीन बेटियों की शादी में रुपया न लगावे के पड़े। बूढ़ सास–ससुर को अलग कर दी। देवर को खटने के लिए रख लिया। आग से खेलने वाले कभी–कभी आग से जल भी जाते है। का जरूरत थी तलवार के धार पर दौड़ने की। राम सुन्नरा भी पूरा मेहर मौगा है। बाप–मतारी के छोड़ के धन जीतने गया है। यहाँ घर का धन ही मूस लिया गया। लालच सबको बराबर दंड देती है, चाहे औरत हों या मरद।" नरोत्तम बो काकी ने लम्बी साँस लेते हुए कहा।

"सही बात कही हो काकी। भंडारी माई के साथ भी ऐसा ही हुआ, मगर उन्होंने अपने दु:ख से पार पाकर दूसरों के लिए ऐसा किया की साधारण औरत से सबकी भंडारी माई बन गई। बेचन बो बोली।वह भी जवान थीं, मगर जवानी अपने करम से गाँव जवार को छाया और पानी से आबाद दिहिन।"

"हे अम्मा भंडारी माई के किस्सा कहीं। रात में ओनकर बात सुन के करेजा भरोसा से भर जाला।" नन्दलाल के मझिलकी भौजी ने लखिया की मतारी का मनुहार किया।

"तुम सब किस्सा–कहानी के लिए हमेशा प्यासी रहती हो। हंसलोलई हमेशा ठीक नहीं।" झिडकते हुए लखिया की मतारी बोली।

"हे अम्मा, माफकरीं मगर भंडारी माई के बात जरूर बताई। आखिर कैसे एक गडेरी के मेहर गाँव–ज्वार के माई हो गईल?" नंदलाल की मझली भौजी ने मनुहार किया।

आखिर में लखिया के मतारी को तैयार होना ही पड़ा। खंखार कर गला साफ करते हुए वह कहने लगी–"हम औरत न जाने कितनी बार अपने को सही साबित की हैं। अब भंडारी माई को ही लिया जाये। उन्होंने गाँव–ज्वार के दु:ख को अपना दु:ख समझा। सभी को भरोसा दिया और सत भंडरिया तालाब बनाकर सभी सात गाँव के जीव–जंतु और पास–परानी के वास्ते पानी की व्यवस्था की। भंडारी माई के इस काम से आसपास की धरती पानीदारभई। साथ ही परती जमीन पर पेड़–पालो के जमने से पशुओं के आहार का जुगाड़ हो गया।"

"मगर अम्मा वह वैरागी कैसे बनी?"बेचन की मेहर ने सवाल किया।

"वैरागी नहीं, वह अनुरागी थीं। फान दी हूँ, तो सब बताऊंगी, धीर धरो।" बेचन बो को बरजते हुए लखिया की मतारी बोली।

सारी औरतें मन–चित्त से सुनने लगीं।

बात सात पीढ़ी पहले की है। कहने वाले कहते हैं कि जिस साल भंडारी रामफल और सुखिया के आंगन में आई थीं, उस साल खूब बारिश हुई। कई साल का जमा पानी बादल उसी साल में बरसा दिए। ताल–पोखर, नदी–नाले, पानी से लबा–लब। खेतों में खूब अनाज हुआ। कई साल बाद जंगलों में बांस के फूल दिखाई दिए। पहाड़ जड़ी–बूटियों से लद–फन गए थे। गाय–भैंस और भेड़–बकरियों के थन दूध से भर गए थे। रामफल और सुखिया के यहाँ भेड़ों की खूब बाढ़ हुई। सब मिलाकर वह साल उमंग और खुशी का साल रहा। भंडारी को पूरा गाँव चाहत रहा, सिवा ओकरेफुआ के। ओकरफुआनिपुती थी। ओकरफुआशुकली बड़ी गाढ़ और ठस तिवई (औरत) रही। जैसे–जैसे गाँव–जवार में भंडारी के मान सम्मान बाढ़े लागल वैसे–वैसे शुकली के ब्रहमांड में आग लगे लगा। इतना कहते हुए लखिया की मतारी एक गीत छेड़ दी–

बाढ़े लगली भंडारी धीया
ताल–पोखर के धीया
जंगल–पहाड़ के धीया
गाँव–घर के धीया
धरती मैया की पियारीधीया
बाढ़े लगली भंडारी धीया।
बादर पानी से भींगल
पेड़–पौधे लागल रहे फल–फूल
शुकली के जियरा में उठे लागल शूल
हँसे लागलसिवान और बाग
शुकली के ब्रह्माण्ड में जले लागल आग।।।।

आधी पहर पहले की रात। लखिया के मतारी के आवाज गूंजतरही। सारी औरतें ध्यान से भंडारी माई की कहानी सुन रही थीं। कहानी को आगे बढ़ाते हुए लखिया की मतारी कहने लगी। भंडारी निमन कन्या रही–अपने माई–बाप की आँखों का तारा। प्यार–दुलार और मनुहार से पलती बेटी रेंड़ की गाछ की

तरह बढती जात रही। सूरज-चाँद की देख-रेख में पलती- बढती रामफल और सुखिया की धीया देखते-देखते बिआह लायक हो गई। देख हरूओं का आना-जाना बढ़ गया। रामफल और सुखिया की एक ही बेटी थी। वह घर दमदा चाह रहे थे। इसी बात पर बनते-बनते बात बिगड़ जाती रही। वर और वर के घर वालों को कन्या और जमीन का मोह जरूर रहा, मगर कोई घर दामाद बनने को राजी ना होत रहा। शुकली अंदर-अंदर खुश होत रही।

देखते-देखते समय बीतता जा रहा था। कोई घर वर तैयार ना भया। तीन साल बाद जियानपुर का एक नौजवान तैयार भया। उस नौजवान का नाम भोला रहा। नौजवान के मतारी-बाप मर चुके थे। भाई-भौजाई से नेह-परेम का रब्त-जब्त ना रहा। नौजवान जंगल-पहाड़ में लोगन के गाय-भैंस चरावत रहा। इस बात से गाँव ने राहत की सांस ली। शुकली के ब्रह्माण्ड में आग लग गया।

धीरे-धीरे बिआह के दिन आ गया। तैयारी जोरों पर रही। बारात और जनवासे के लिए सदाफलकोहार के खेत को साफ कर दी गई। भंडारी की सारी सहेलियों ससुराल जा चुकी थीं। उसका सिंगार-पठार रिश्ते की भौजाइयों ने किया। भंडारी को ससुराल तो जाना नहीं था, इस वास्ते वह दुखी नहीं रही। बस एक बार जिसके साथ जीना था, उसको, देख लेने के साध मन में जरूर हिलोर ले रही थी। मगर किसी से कह न पाई। इतना कहने के बाद लखिया की मतारी कुछ पल के लिए रुकी और लम्बी साँस लेने के बाद भारी मन से कहती भाई-एक भौजाई के मन में न जाने का उमंग उठा कि वह हाथ पकड़ कर घर के सामने वाले ऊँचे ढूह पर ले आई। वहां झक्क अँधेरा रहा। कोई देख न पाया, मगर दोनों ने भोला को देख लिया। भंडारी का हियाजुड़ा गया। वह अंदर से भींग गई। धीरे-धीरे दोनों ननद-भौजाई ढूह के नीचे आ गईं।

शादी-बिआह का दिन था, सब लोग काम-धाम में लगे थे। सिंदूर दान का बखत आ गया था। दुल्हन मंडवा में आने वाली थी, तभी पहपट मच गया। लोग जनवासे की ओर दौड़ने लगे। भोला के मुंह से झाग निकल रहा था। झाड-फूंक का भी मौका न मिला, सिंदूर दान करने वाला दुनिया छोड़ चुका था। भंडारी की दुनिया बसने से पहले उजड़ गई।

समय-बीतता जा रहा था। कुछ साल बाद रामफल और सुखिया भी दुनिया से बिदा हो गए। भंडारी अकेली पड़ गयी। खेत-खलिहान, घर-द्वार काटने को दौड़ने लगे। मन परेशान-सा रहता। गाँव-ज्वार में वह रौनक न रही। पानी कम बरसने लगा। नदी-नाले और खेत सुने रहने लगे। अन्न-जल की कमी से जन-जनावर और लोग-बाग मरने लगे। भंडारी के आसपास के घर सुने हो गये। गाँव मरघट हो गया रहा।

एक-एक करके दिन-रात जाते रहे। जीवन से ज्यादा मरण होता रहा। हँसता-खेलता गाँव मरघट बन गया था। एक दिन भंडारी गाँव के बचे लोगों को बुलाई। जितने जिंदा थे, उतने आये। अन्न-जल के अभाव में सब हड्डी के ढांचे बन गए रहे। सबको भर आंख देखने के बाद भंडारी बोली-आग और पानी, दोनों जीवन होत है। ई बखत आग ही आग है सगरो दिशा में। जीवन खातिर पानी चाही। पानी के रोके बदे पेड़ और पोखर चाही। दू जून त नहीं, मगर एक जून बदे, जोन्हरी आउर बजड़ा है, गाँव में पानी के वास्ते पेड़ और पोखर बनावे के होई। पहले पोखर खोदाय, बाद में पेड़ लगे के चाही। जतन करके पेड़ के जियावे के पड़ी।

भंडारी माई के बल-भरोसे से सात गाँव में सात पोखर और अट्ठाईस बाग लगाए गए। पहिलका पोखर तैयार होते-होते खूब पानी बरसा। नदी-नाले और ताल-तलैया लबा-लब भर गए। गाँव फिर से अन्न-जल और जीवन से आबाद हो गये। भंडारी के जश आज भी लोग गाते हैं। तालाब और पानी-पेड़ से गाँव घर को आबाद करके बिना बल-बच्चे वाली औरत गाँव-ज्वार की माई बन गई। इतना कह कर लंबी साँस लेते हुए लखिया की मतारी बोली -कहानी गईल बन में, सोचा अपने मन में।

कहानी खत्म हो गई। कमासुत औरतें बहुत देर तक जागती रहीं।

◆◆◆

पूरे पखवारे तक काम-धाम चलता रहा। कमासुत औरतें जी-जान से काम करती रहीं। कलकलिया में नहाते धोते किस्सा कहानी कहते-सुनते लौटने की बारी आ गई।

लौटने के एक दिन पहले कमासुत औरतें सारा कपडा-लत्ता समेट चुकी थीं। खान-पान बन रहा था। तभी रामदयाल बो काकी ने आवाज दिया- "अरे हे लखिया के मतारी, आवा चला खान-पियन हो जाए।"

"हे अम्मा, इतना कहानी-किस्सा सुनने के बादो लखिया के मतारी कहतहईन। हमार इच्छा बाटे कि अब ई कूल बदले के चाही। अब हमारा के

हमरे नाव से पुकारल जाये। ऊ नाव जवन हमार माई-बाप दिए हैं।" बात पूरी करते-करते लखिया की मतारी के चेहरे पर धूप लौट आई।

"हे धीया ई का कहतहऊ, औरतन के नाव से थोड़े बुलावल जाला।" रामदयाल बो काकी का माथा सिकुड़ गया था।

"होला त बुलावे में का दिक्कत बा। कुक्कुर-बिलार नाम से बुलाए जा सके हैं। का औरत जात कुक्कुर-बिलार से गयल-गुजरालहोत हैं? कलकलिया के नाम बाटे, भंडारी माई के नाम बाटे, हम सबका भी नाम है, आज से नाम से बुलाई जाएँगी हम सभी।" नंदलाल की मेहररारू तमकते हुए बोली।

"तोर नाम का बाटे?" बेचू के माई ने सवाल किया।

"हमार नाम सरोज देवी।" इतना कहते हुए सरोज देवी उर्फ नंदलाल की मेहरारू हंसने लगी, गोया कोई मजेदार बात कह गई हो।

"अरे वाह जितना निमन मन और तन है, उतना सुंदर नाम भी है।" रामदयाल बो काकी बोलीं।

"तोहार नाम का बाटे काकी।" सरोज ने रामदयाल बो काकी से नाम पूछ लिया।

"हमार नाम, का बाटे, ई त सोचे के पड़ी।" थोड़ी देर सोचने के बाद बोली-"शायद शुकली। काहे से की एक बेर पतरा बांचे के बखत बिमला के बापूईहे नाम बतवले रहलन पंडित जी के।" सोचते-विचरते हुए रामदयाल बो काकी किसी तरह अपना नाम बता पाई।

इसी हुल्लड़ में सारी औरतों सहित लखिया के मतारी का नाम पहली बार मालूम हुआ कि उसका नाम दुलारी है। सारी औरतें एक-दूसरे का नाम जान चुकी थीं।

अपना देहल नाम पाकर, सारी कमासुत औरतें बड़ी खुश थीं।

दुलारी ने कहा-"आज का दिन हमहन के जीवन के सबसे बड़ा दिन बाटे। हम सबके कमाई के साथ-साथ हमहन के नाम पता चल गयल। अब हमहन के आपन नाम लिखे के सिख लेवे के चाही, ताकि कारड पर नाम पढ़ लिवल जाये। अगला कदम हरफ के तरफ होवे के चाही। आउर हम सभे के जाती-धरम से ऊपर उठ के औरत जात के हित के बात सोचे के चाही। लखिया के बिआह जहाँ लगल बा, वहीं होई। जोग बर पहिले, जात-पात बाद में।" सम्सुन्निस्सा उर्फ जैकरुल्ला के मतारी ने प्रस्ताव रखा, जिसे सब ने फौरन मान लिया। सब हूब में थीं।

आधी रात के बाद तक खान-पियन के साथ सबका नाम ले ले कर हंसलोलई होता रहा। चाँद-तारों सहित असमान भी मुस्करा रहा था।❑

महासंगीति की झलक

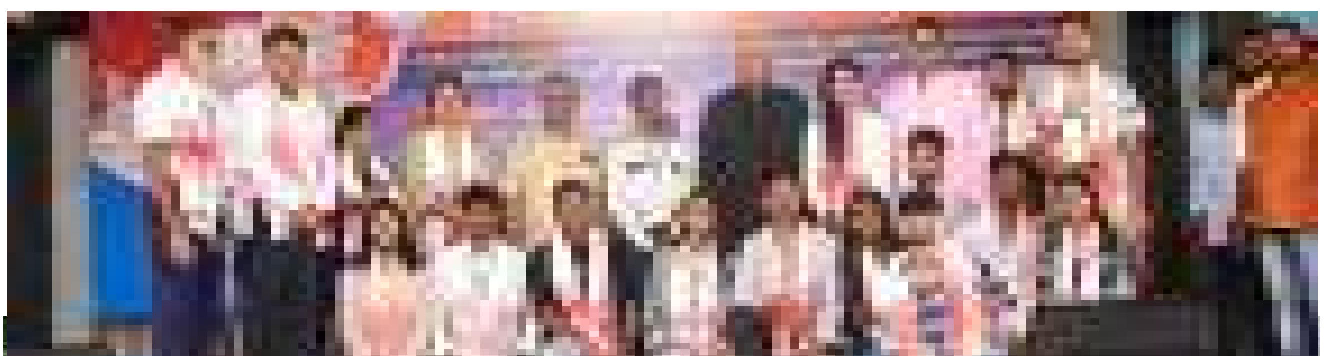

कथा-कहानी मंच

उसका वजूद

मार्टिन जॉन

जन्मः 29 अक्तूबर 1954

शिक्षाः स्नातक

पुरस्कारः

सारिका, कथादेश और हंस जैसे स्तरीय पत्र-पत्रिकाओं में कथा-कहानी के लिए पुरस्कृत।

कृतियांः :

दो लघु कथा संग्रह, दो कहानी संग्रह और एक कविता संग्रह

संपर्क : भोजूडीह, जिला बोकारो, झारखंड

फोन : 9800940477

ईमेल : martin29john@gmail.com

'दीनू नहीं रहा!' मां-बाप के जमाने से पुश्तैनी घर में काम करने वाली शांति मासी ने खबर दी।

दीनू!... दीनानाथ हांड़ी !... उसका क्लास-मेट। ...वह एक बारगी तीन दशक पीछे चला गया...

...जैसे ही सिनेमा हॉल के बाहर लगे 'हाउसफुल' के बोर्ड पर नजरें पड़ीं, सबके चेहरे बुझ गए। बुझे मन से सब वापस कार में जा बैठे। किशन कुमार अभी कार स्टार्ट करने ही वाला था कि कोई खिड़की के पास आकर फुसफुसाया, सा'ब ..कहे को वापिस होना। अपने पास आठ टिकट हैं, दस का पंद्रह में दूंगा... बाल्कोनी का है। ले लो सा'ब!'

किशन कुमार सिर घुमाकर अभी कुछ कहता कि सामने वाला ब्लैकिया आश्चर्य मिश्रित खुशी से चिल्ला पड़ा- ''अरे...तुम किसना... है न? पहिचाना? मैं दीनानाथ। तेरा दीनू हूँ, बचपन का...''

''शटअप! तमीज से बात करो। मैं किसी दीनू-वीनू को नहीं जानता।'' और गाड़ी झटके से स्टार्ट हो गई। वह हक्का-बक्का वहीं खड़े-खड़े पेट्रोल और धूल की दुर्गंध फेफड़े में निगलता रहा-''स्साला अब काहे को पहिचानेगा। ...बड़का आदमी जो बन गया है।''

सारी रात किशन कुमार सोने के प्रयास में करवटें बदलता रहा। जैसे ही आँखें बंद करता, दीनू का चेहरा सामने आ जाता, जिसे आज उसने अपने बीवी-बच्चों के सामने पहचानने से एकदम इंकार कर दिया था। वह फिर कई साल पीछे लौट गया...

...कस्बे का सरकारी स्कूल। पहली से सातवीं कक्षा तक दीनानाथ हांड़ी उसके साथ था। किशन कुमार शुक्ल के पिता नगरपालिका के एक किरानी और दीनू के माता-पिता उसी नगरपालिका के स्वीपर थे। जात-पांत और सामाजिक स्तर कभी उनकी मित्रता में दीवार नहीं बन पाए थे। क्या घर, क्या बाहर, क्या स्कूल सब जगह दोनों गलबहियां डाले बेपरवाह घूमा करते थे। दीनू का परिवार आर्थिक दृष्टि से संपन्न था। मां-बाप दोनों कमाने वाले। खाने वाला केवल एक बेटा। उसकी जेब में हमेशा पांच-दस के नोट फड़फड़ाते रहते। चाट, छोले, बादाम, सिनेमा आदि का खर्च दीनू की जेब के जिम्मे रहता था।

किशन को अपनी जेब के कोने में

एक दो रुपये के सिक्के ही दुबके मिलते थे। दीनू द्वारा लाए गए हलवा, मिठाईयां, केक आदि पर किशना भी हक जमाता था। टिफिन के वक्त स्कूल के किसी खाली कमरे में बैठकर खुद कम खाना और किसना को जी भर खिलाना दीनू की एक आदत-सी बन गयी थी।

उस समय एक-दो रुपये के सिक्के किसना लिए बहुत बड़ी धन राशि हुआ करती थी। सरकारी स्कूल में पढ़ने वाले उसके पांच भाई-बहनों को एक-दो रुपये के ही सिक्के मिला करते थे। अगर किसी माह उसके पापा को तनख्वाह नहीं मिलता तो उन्हें ये सिक्के भी नसीब नहीं होते। उस महीने पापा को परिवार के सात प्राणियों के लिए राशन-पानी का इंतजाम करना बेहद मुश्किल हो जाता। इस बीच परिवार का कोई सदस्य शारीरिक रूप से अस्वस्थ हो गया तो उसके इलाज के मद में खर्च होने वाले पैसों का बंदोबस्त करना पापा के लिए टेढ़ी खीर बन जाती थी। मेडिकल स्टोर के उधार खाते में नाम दर्ज करवाने के अलावा कोई उपाय नहीं रहता था।

टिफिन के वक्त वह झिझकते हुए अक्सर जेब में दुबके पड़े दो रुपये का सिक्का निकाल कर दीनू को थमाना चाहता। दीनू के खर्च में शामिल होने की उसकी भी इच्छा होती। लेकिन दीनू उसके कंधों पर हाथ रखकर विनम्रता से मना कर देता, इन्हें जमा करके रख। कभी अगर कड़की आ गई तो मैं तुम्हें बोलूंगा।' लेकिन कड़की उसके पास कभी फटकी ही नहीं।

किशन कुमार को मिलने वाले एक-दो रुपये के सिक्के जब बीस-पचास के नोट में बदलने लगते तो कोई-न-कोई आफत उस पर आन पड़ती। कभी पेंसिल खो जाती, कभी कलम तो कभी ज्योमिट्री बॉक्स, उन्हें दुबारा खरीदने के लिए पापा से पैसे मांगने का मतलब एक और बड़ी 'आफत' को निमंत्रण देना। ऐसे मामलो में पापा का रौद्र रूप की कल्पना कर ही कांप जाता। एक-बार जब उसकी जेब के सिक्के दस-दसके पांच नोट के रूप में उछल-कूद मचाने लगे तो उसने दीनू से जोर देकर कहा-''अगले सप्ताह की टिफिन का सारा खर्च मेरा रहेगा।'' परंतु अफसोस, यह हो नहीं सका। उस दिन स्कूल से लौटते वक्त गली में फुटबॉल खेलते हम उम्र बच्चों को देखने के लिए रुका था। अचानक एक बच्चे की किक से बॉल उसकी तरफ आ गया। बॉल को वापस बच्चों के पास भेजने के लिए उसने भी एक जोरदार किक मारी। फिर क्या था, बॉल के साथ उसके जूते की तला भी हवा में लहराने लगा। यह एक नई आफत थी। बड़े प्यार से सहेजे गए दस-दस के पांच नोट में से चार नोट छिटककर रवि काका के पास चले गए। जूते की नई तल्ली खरीदने और मरम्मती में पूरे चालीस रुपये खर्च हो गए।

पता नहीं फिर क्या हुआ कि अचानक दीनू का स्कूल आना बंद हो गया। दीनू का पता लगाने के लिए वह उस कॉलोनी में गया जहां दीनू रहता था । उसके पड़ोसियों ने उसे इस खबर से वाकिफ कराया कि किन्हीं पारिवारिक कारणों से उसके माता-पिता ने नौकरी छोड़ दी है और खड़गपुर की किसी बस्ती में जा बसे हैं, वहीं दीनू का ननिहाल भी था।

इस बीच किशन कुमार की पढ़ाई उसी सरकारी स्कूल में ही जारी रही। चुंकि वह अपने भाई-बहनों की तुलना में सबसे ज्यादा कुशाग्र बुद्धि पायी थी, इसलिए पढ़ाई-लिखाई के मामले में उसने कोई शिकायत का मौका नहीं दिया। माता-पिता पूर्ण संतुष्ट थे। कक्षा में अव्वल रहने का सिलसिला दसवीं तक जारी रहा। आगे की पढ़ाई के लिए उसे निकटवर्ती शहर दुर्गापुर भेज दिया गया। वहीं उसने स्नातक की डिग्री हासिल की। खुशकिस्मती से रोजगार की तलाश की शुरुआती कोशिश में ही उसे कामयाबी मिल गई। इंडियन रेलवे सर्विस में उसका चयन हो गया। द्वितीय श्रेणी के अधिकारी की तीन वर्षीय ट्रेनिंग के बाद दक्षिण पूर्व रेलवे के खड़गपुर डिविजन में वाणिज्य प्रबंधक के रूप में उसकी पोस्टिंग हो गई।

आज एक मुद्दत के बाद दीनू मिला भी तो उसके सामाजिक स्तर ने उसे पहचानने से इंकार कर दिया। गाली भी दे डाली। दीनू के प्रति उसकी बद-सलूकी ने उसे बेहद उद्विग्न कर डाला। लगा कि उसके स्तर ने उसे मिली ऊंची तालीम का मजाक उड़ाया है। ऊंची तालीम ने तो यह नहीं सिखाया कि ऊंचाइयों पर पहुंचकर अपनी जमीन को भूल जाओ। वह जमीन को भूल गया और इस धारणा को और भी पुख्ता कर डाला कि मित्रता समान स्तर के ही बीच होती है। ...नहीं वह इस धारणा को तोड़ेगा। दीनू को शिद्दत से एहसास दिलाएगा कि वह उसे भूला नहीं है। बचपन में उसके संग गुजारे एक-एक पल अभी भी

उसके जेहन में बदस्तूर जिंदा है। वह एहसान फरामोश नहीं है। उसके हर एक एहसान को वह अपने सीने में संजोये रखा है।

उसकी उद्विग्नता में थोड़ी-सी नरमी आई इस फैसले से। उसने निश्चय कर लिया कि वह दीनू से मिलेगा, जरूर मिलेगा, एक अफसर की तरह नहीं बल्कि किसना की तरह। बचपन के दोस्त की तरह। उससे माफी मांगेगा उस बदसलूकी के लिए। वह जानता है, दीनू का दिल बहुत बड़ा है। उसकी गुस्ताखी को वह नजर-अंदाज कर देगा, जैसे बचपन में उसकी कई गुस्ताखियों को हंस कर माफ कर देता था। उसे पूरी उम्मीद है अपने सामने उसे देखते ही मोम की मानिंद पिघल जाएगा। उसे गले लगाएगा। बचपन की दोस्ती फिर से जिंदा करेगा।

दूसरे दिन वह अपनी गाड़ी लेकर सिनेमा हॉल पहुंचा। इधर-उधर नजरें दौडायीं। दीनू कहीं नजर नहीं आया। एक ब्लैकिये से पता पूछा। पता मिल गया, और वह जा पहुंचा उस बस्ती में जहां दीनू रहता था। बस्ती में चमचमाती गाड़ी घुसते ही हलचल मच गई। बस्ती के लोग अपने-अपने झोंपड़ीनुमा घरों से बाहर निकल आएं। कई तरह के सवाल, जिज्ञासाएं, आशंकाएं छिपकली कीकटी दुम की तरह इधर-उधर छटपटाने लगे। आनन-फानन में चर्चाओं का बाजार गर्म हो गया। जैसे ही वह कार से उतरा हरिया भौचक्क रह गया, 'अरे ये तो हमरे डिपार्ट के बड़े साहब हैं।'

'...लेकिन हमारी बस्ती में इनका का काम?' हरिया रेल का सफाईकर्मी था। इस नाते जब-तब बड़े साहब से उसका वास्ता पड़ता रहता था। तत्काल हरिया बड़े साहब के पास पहुंच कर सलाम ठोंका– ''सर मैं हरिया! स्टेशन का सफाईवाला। आप यहां?'' किशन कुमार उसे न पहचानते हुए भी पहचानने का नाटक किया–''अरे हां! हरिया ये बताओ दीनू हांड़ी यहां कहां रहता है। मुझे उससे मिलना है।''

''सर, उसी का द्वार पर तो आप खड़े है।''

किशन कुमार की गाड़ी के आस-पास बस्ती के बाशिंदों की तादात धीरे-धीरे बढ़ गई थी। हल्की-दबी फुसफुसाहटें माहौल को रहस्मयी बना रही थी। दीनू घर के ही अंदर था। हल्का-दबा शोर जब उसके कानों में पड़ा तो मामले को जानने के लिए दरवाजा खोलकर बाहर आ गया। दीनू को देखते ही किशन कुमार उसके सामने जा खड़ा हुआ। बांहें फैलाकर भीतर के उफान को तोड़ा–''दीनू मेरे दीनू... मैं किसना ही हूं। तेरे बचपन का यार...'

दीनू अपने सामने बचपन के यार को देखकर एकबारगी अचकचा गया। उसके लिए यह अप्रत्याशित था। उसे इसकी कतई उम्मीद नहीं थी कि किसना उससे मिलने उसकी बस्ती पहुंच जाएगा।

''अरे यार ऐसे भकुआ कर देखता क्या है? आ जा, गले लग जा। देख, तुझसे मिलने मैं खुद पहुंच गया।''

दीनू के भीतर का बांध टूटने वाला था। अपने यार की मौजूदगी की तपिश से यादों के बर्फ कई-कई टुकड़ों में बंटकर पिघलने वाला था। उसकी धडकनें बेकाबू हो रही थीं। सांसें भी तेज होकर उसके नियंत्रण से बाहर हो रही थी। उसका जी चाहा कि बाहों में जकड़ ले अपने किसना को। वह आगे बढ़ने ही वाला था। आगे बढ़कर अपने यार को सीने से भींचने ही वाला था। उसके कदम बढ़ते कि भीतर से किसी ने बुरी तरह झिंझोड़ा। झिंझोड़ कर उसकी नजरों के करीब सिनेमा हॉल में लगे होर्डिंग की तरह उसे बेइज्जत किया जाने वाला मंजर ला खड़ा कर दिया। उसे पहचानने से इंकार कर दिया जाने वाला दृश्य उसके सीने में कांटों की तरह चुभने लगे। जज्बात की उफनती नदी में किसी ने एक बड़ा-सा पत्थर फेंका–''खबरदार, आगे मत बढ़! तेरा भी अपना एक वजूद है।'' उसने स्वयं को संयत किया। बढ़ते कदम रुक गए। चेहरे को भावहीन बनाकर कहा–''नहीं! सा'ब हम दीनू नहीं, आप गलत ठिकाने पर आ गए हैं।'' और वह झटके से झोंपड़ी में समा गया।

किशन को लगा, बचपन के यार ने ऊंचाईयां छूते उसके वजूद और उसे मिली ऊंची तालीम के दमकते मुखड़े पर ढेर सारा थूक उगल दिया।''❑

शेष पृष्ठ 43

इन्हीं चार धातुओं में
पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु में।

कोई बात नहीं मत लो
बाबा साहेब का नाम
और उनका ही नाम लो
जिससे तुम स्वर्ग जाओ
लेकिन सुन लो कान खोलकर
देश संविधान से ही चलेगा।❑

सपनों की औकात

डॉ. कनक लता

जन्मः10 जनवरी 1978

मैनपुरी. उत्तर प्रदेश

शिक्षाः एम.ए., एम.फिल

पी.एच.डी–हिंदी

पुरस्कारः

स्त्रियों से संबंधित लेखों के लिए समयांतर की ओर से 'लक्ष्मी देवी' अवार्ड

कृतियांः :

सावित्रीबाई फुले : देश की पहली अध्यापिका का जीवन संघर्ष एवं विभिन्न पत्र–पत्रिकाओं में शोध लेख प्रकाशित। कहानी, कविता व संस्मरण पर काम।

संपर्क : डॉक पत्थर, देहरादून, उत्तराखंड

फोन : 9899795774

"अरे सुनीता, ये बच्चे जिस समाज के हैं, यदि वे भी बड़े सपने देखने लगेंगे, तो हमारे समाज के लिए खतरा पैदाकर देंगें। फिर हमारे बच्चों का और हमारे समाज का क्या होगा? वैसे भी इन आरक्षणवालों के कारण हर चीज पर हमारा अधिकार आधा रह गया है... इसलिए यही अच्छा होगा किये बच्चे केवल सफ़ाई कर्मी या किसान बनने का ही सपना देखें। हमारे लिए भी यही ठीक है और इनके लिए भी यही ठीक होगा... समाज में इससे शांति और संतुलन बना रहता है। मैंने इसीलिए उनको कोई और सपना देखने से रोका।" सुरेश बलूनी ने एकदम बेबाकी से कहा, सुनीता हैरान थी

"लेकिन हमारी संस्था तो शिक्षा के लिए काम करती है ना? ...और हम वहां बच्चों को सपने देखने के लिए प्रेरित करने की बात भी करते हैं...! ...तो फिर मुझे यह समझ में नहीं आया कि बच्चों को सपने देखने से क्यों रोक रहे हैं आप?" सुनीता की जिज्ञासा कम होने का नाम नहीं ले रही थी।

वंचित–दलित समाज की सुनीता दिल्ली विश्वविद्यालय की एक अच्छी छात्रा थी, जैसाकि उसके टीचर और प्रोफेसर कहा करते थे। उसने पढ़ाई करते हुए वहीं से पीएच.डी. की थी और कुछ समय तक अस्थाई रूप से वहाँ पढ़ाया भी। उसके अभिभावकों और अध्यापकों को उससे काफी उम्मीदें थीं। उसने शिक्षा, यानी पढ़ने–पढ़ाने, को ही अपना ध्येय बनाया और उसी क्षेत्र में आगे बढ़ने और उसी के माध्यम से अपने शोषित–वंचित–समाज से जुड़ने और उसके लिए काम करने का निश्चय किया, जोकि उसका हमेशा से सपना था...।

सवर्णी–नियंत्रण में काम करने वाली सरकारी–नीतियों के चलते देशभर में लगातार कम होती नौकरियों के कारण कॉलेजों और विश्वविद्यालयों में इसके अवसर काफी कम हो गए थे। साथ ही, नियुक्तियों में बढ़ते भाई–भतीजावाद, वंचितों में हनुमानवृत्ति को बढ़ावा देने और पैसे के खेल ने इस मुश्किल को और बढ़ा दिया, जहाँ किसी 'गॉडफादर' के वरद्–हस्त के बिना और वंचितों के मामले में तो 'हनुमानवृत्ति' को अपनाए बिना आगे बढ़ना मुश्किल होता गया।

इसी बीच कुछ दोस्तों, शुभचिंतकों

और परिवार के सदस्यों ने शिक्षा के क्षेत्र में काम करनेवाली किसी सामाजिक-संस्था में काम करने का सुझाव दिया। इससे उसके दोनों उद्देश्य पूरे हो सकते थे; एक तो शिक्षा के माध्यम से समाज के लिए संगठित रूप से कुछ करने की राह खुल सकती थी, दूसरे, करियर को भी एक सार्थक दिशा मिल सकती थी। उसने कई संस्थाओं के बारे में पता किया और काफी खोजबीन के बाद एक संस्था उसे अपने उद्देश्यों के अनुरूप लगी।

यह सामाजिक-संस्था विद्यालयी-शिक्षा के क्षेत्र में सरकार, शिक्षा-विभाग और सरकारी-स्कूलों के अध्यापकों-अध्यापिकाओं एवं विद्यार्थियों के साथ मिलकर काम करती थी, जिसका संचालन भारत की आईटी सेक्टर की एक बहुत प्रसिद्ध कंपनी कर रही थी। संस्था का दावा था कि दुनियाभर में जो गरीबी, लाचारी, अवैज्ञानिक-मनोवृत्तियाँ और जहालत मौजूद है, उसका कारण है शिक्षा का अभाव; इसीलिए उक्त संस्था ने शिक्षा के प्रचार-प्रसार को अपना लक्ष्य बनाया, ताकि वह भी एक बेहतर समाज बनाने की दिशा में सरकार का सहयोग कर सके। कई संस्थाओं की तरह "एजुकेशन फॉर सस्टेनेबल एंडइक्वेटेबल सोसाइटी" उसका भी नारा और ध्येय-वाक्य था। यह संस्था भारत के कई राज्यों में कार्य करती है, जिसमें देश की सरकारी-मशीनरी और शिक्षा-विभाग का सहयोग भी उसे प्राप्त है।

उक्त संस्था के रूप में सुनीता को जैसे एक मजबूत हाथ का सहारा मिल गया, जिसकी मदद से वह अपने लक्ष्य की ओर बढ़ सकती थी। आखिर उसका भी तो वही सपना था, जो उक्त संस्था के उद्देश्यों से मेल खाता था। उसने अपने उद्देश्य को संस्था के उद्देश्य के साथ मिला दिया और पूरे समर्पण-भाव से संस्था के साथ जुड़ गई, जिसके लिए वह लिखित परीक्षा और कई चरणों के इंटरव्यू देकर सेलेक्ट हुई थी। उसे उत्तराखंड के पौड़ी जिले में नियुक्ति मिली।

...पौड़ी शहर मध्य-हिमालय के पहाड़ों पर बसा हुआ एक छोटा-सा बेहद खूबसूरत और शांत शहर है। इस शहर और जिले (यह जिला भी है) के आसपास सैकड़ों छोटे-छोटे गाँव और कस्बे आबाद हैं। 'आबाद' कहना अब तो तनिक मुश्किल ही है, क्योंकि बेहतर भविष्य की आशा में युवा-पीढ़ी की एक बड़ी आबादी यहाँ से शहरों या कुछ विकसित स्थानों की ओर पलायन कर गई है। यहाँ तेंदुओं, चीतों, जंगली खतरनाक शूअरों के हमलों ने भी लोगों को पलायन करने को मजबूर किया, क्योंकि तेंदुए जैसे खतरनाक जानवर लोगों और उनके पशुओं पर हमले करते और जंगली सूअर किसानों के खेतों को खोद डालते हैं, लोगों पर हमले भी करते।

वैसे पौड़ी की सामाजिक-सांस्कृतिक, शैक्षणिक और आर्थिक स्थिति को देखते हुए शहर की बजाय एक कस्बा कहना ज्यादा ठीक होगा। यहाँ से हिमालय के विहंगम स्वरूप का नजारा किसी के भी मन को बाँध लेने के लिए काफी है। दूर-दूर से सैलानी इस विहंगम दृश्य के दर्शन करने आते, हालाँकि अभी इस शहर की भनक पहाड़ के बाहर की दुनिया को उतनी नहीं लगी थी, जितनी अन्य प्रसिद्ध हिल-स्टेशनों के बारे में जानकारी थी। इसीलिए कूड़ा-करकट, गंदगी और भीड़भाड़ के मामले में अभी इसका वह बुरा हाल नहीं हुआ था, जो अन्य प्रसिद्ध हिल-स्टेशनों का था। सुनीता को इसी जगह पर रहते हुए काम करना था। प्रकृति के इस मनमोहक सान्निध्य में रहना और काम करना किसे अच्छा नहीं लगेगा। दिल्ली के दमघोंटू माहौल में रही सुनीता को जैसे बिना माँगे मनचाहा वरदान मिल गया था, जिसकी उसे उम्मीद भी नहीं थी।

पौड़ी में चूँकि अधिकाँश आबादी आर्थिक रूप से उतनी मजबूत नहीं थी, इसलिए यहाँ बच्चे प्राय: सरकारी-विद्यालयों में ही पढ़ते थे। वैसे संपन्न और आर्थिक रूप से कुछ सक्षम लोग और सरकारी कर्मचारी अपने बच्चों को अंग्रेजी माध्यम के प्राइवेट स्कूलों में ही पढ़ाते थे। सरकारी-विद्यालयों में अधिकांशत: वंचित या कमजोर समुदायों के ही बच्चे रह गये थे।

नगरपालिका द्वारा संचालित एक उच्च-प्राथमिक विद्यालय यानी छठवीं से आठवीं तक का... प्राय: सभी विद्यार्थी वंचित-तबकों के ही थे, शायद इक्का-दुक्का सामान्य वर्गों के भी... संस्था ज्वाइन करने के तीसरे दिन सुनीता वहाँ जाती है, विद्यालय के विद्यार्थियों और उनकी अध्यापिकाओं से परिचित होने... मिडियेटर यानी माध्यम है संस्था का पुराना कर्मचारी सुरेश बलूनी, एक ब्राह्मण। इस दिन तो सुनीता की शैक्षिक और शैक्षणिक पृष्ठभूमि से अभिभूत प्रधानाध्यापिका और शिक्षिकाएँ उससे बात करने के लिए उसे अपने पास ऑफिस में ही बिठा लेती हैं और सुरेश को बच्चों के पास काम करने के लिए

भेज देती हैं। काम खत्म करके ऑफिस में वापस लौटे सुरेश के सामने शिक्षिकाएँ सुनीता की विद्वता और ज्ञान की तारीफों के पुल बाँध देती हैं...

अगले दिन भी वह सुरेश के साथ उसी विद्यालय पहुँची। कल उसकी प्रशंसा से चिढ़े हुए सुरेश बलूनी ने आज विद्यालय पहुँचने के पहले ही उसे सख्त हिदायत दे दी कि वह आज शिक्षिकाओं के साथ बात नहीं करेगी, केवल सुरेश के साथ बच्चों की कक्षा में जाएगी।

अध्यापिकाओं ने कल की ही तरह आज भी तीनों कक्षाओं—छठवीं से आठवीं के सभी बच्चों को एक कक्षा में बिठा दिया और वे स्वयं ऑफिस में बैठकर अन्य काम करने लगीं। यहाँ के अधिकांश विद्यालयों में अलग-अलग कारणों से बच्चों की संख्या बहुत कम ही होती थी, कभी-कभी तो किसी-किसी विद्यालय में केवल दो या तीन बच्चे ही होते थे। इस विद्यालय में भी कुल मिलाकर बमुश्किल बीस-बाईस बच्चे ही रहे होंगे।

सुरेश ने बच्चों के साथ बातचीत शुरू। इससे सुनीता को पता चला कि कल सुरेश ने बच्चों को यह सिखाने के लिए कि किसी का साक्षात्कार कैसे लेते हैं, बच्चों को साक्षात्कार में पूछे जाने वाले प्रश्नों की सूची बनाने का काम दिया था, जिसे बच्चों को आज पूरा करके लाना था। लेकिन बच्चे जिस सामाजिक-आर्थिक तबके से थे, वहाँ उनके लिए यह काम तनिक कठिन था। ऐसा नहीं है कि बच्चे ऐसा करने के काबिल नहीं थे, बल्कि सच तो यह है कि परिवार को चलाने की खातिर पैसा कमाने के लिए माता-पिता के साथ काम करने में लगे रहने वाले उन बदनसीब बच्चों के पास न तो पढ़ने-लिखने के लिए पर्याप्त समय था, न सोचने-विचारने के लिए पर्याप्त अवसर। ताकतवर सवर्ण-समाज द्वारा नित्य-व्यवहार से उनके आत्म-विश्वास की उड़ाई गई धज्जियाँ जो स्मृति में साथ ही रहती।

कोई विद्यार्थी माता-पिता के साथ सब्जी या फल बेचता, कोई कूड़ा बीनने जाता, किसी को खेतों पर जाना होता था, तो किसी को पटरी किनारे पिता या भाई के साथ जूते गाँठने का काम करना होता था। कुल जमा बात यह थी कि उन बच्चों में से किसी को भी घर में पढ़ने का अवसर मुश्किल से ही मिल पाता था। जबकि सुरेश बलूनी एक ऐसे शक्तिशाली वर्ग 'ब्राह्मण-वर्ग' का व्यक्ति था, जो दावा तो करता था, सबके लिए सामाजिक-समानता और समान शिक्षा के अवसर दिए जाने का; किंतु उसकी वास्तविक मानसिकता उजागर होनी अभी बाकी थी।

सुरेश बलूनी एक औसत व्यक्तित्व का व्यक्ति था, जो इस संस्था में आने से पहले किसी और संस्था में काम करता था। उसकी शिक्षा भी स्नातक तक की थी। इस संस्था में आने के लिए आवश्यक न्यूनतम योग्यता को पूरी करने के लिए उसने आनन-फानन में अपने कई साथियों की तरह इधर-उधर से फर्जी जरूरी डिग्रियाँ हासिल की थीं, इसलिए उसके मन में कई बातों को लेकर जबर्दस्त हीन-भावना रहती थी, जो यदा-कदा प्रकट हो जाया करती थी; खासकर तब, जब कोई कायदे का पढ़ा-लिखा व्यक्ति उनके सामने होता। उसमें भी यदि कोई अच्छी-खासी पढ़ी-लिखी महिला उसके सामने आ जाए, तब उसकी हीनभावना देखते बनती थी। शायद उसके मन को कभी अपनी योग्यता का विश्वास नहीं हो सका। लेकिन उसमें अपने ब्राह्मण-पुरुष होने का गर्व-भरा एहसास और उससे उपजे जातीय-दुराग्रह भी कम नहीं थे, जो बहुत छिपाने पर भी प्रकट हो ही जाया करते थे। स्त्रियों के प्रति तो उसकी एक खास किस्म की सोच थी, जो ऐसे पुरुषों की सामान्य तौर पर होती ही है। उसका मानना था कि स्त्रियाँ कितनी भी काबिल हों और कितना भी महत्वपूर्ण काम करती हों, उनका सबसे बड़ा काम है, पुरुष की दैहिक जरूरतों को पूरा करना—यानी मनोरंजन और उपभोग की वस्तु। अपनी इस प्रवृत्ति को वह समाज से तो छिपाता था, लेकिन अपनी सहकर्मी-महिलाओं से नहीं, बल्कि अपनी उन पर तो यह अवश्य जाहिर करता था कि उसके सामने उन महिला-कर्मचारियों की कोई हैसियत नहीं है।

असल में ये दोगली प्रवृत्ति उक्त समाजसेवी-संस्था के हर सवर्ण-पुरुष की थी, ब्राह्मण-पुरुषों में तो विशेष रूप से—'सवर्ण' के रूप में भी और 'पुरुष' के रूप में भी। उनके दो चेहरे थे—एक चेहरा जो समाज के सामने दिखाया जाता था, जो बेहद मानवीय, संवेदनशील और समाज के वंचितों, गरीबों की तकलीफों पर जार-जार आँसू बहाता था; जबकि दूसरा चेहरा वह था जो संस्था के भीतर अक्सर प्रकट होता रहता था जहाँ ये लोग अपने बनावटपन का चोला उतारकर सहज-स्वाभाविक रहते थे। इस दूसरे चेहरे में 'सवर्णपन' और 'पुरुषपन' अपने एकदम नग्न-रूप

में रहते थे, जिनको ये छिपाते भी नहीं थे, बल्कि अपने अहम् की संतुष्टि के लिए जानबूझकर दिखाते थे, ताकि वंचित-तबकों के सहकर्मियों और महिला-सहकर्मियों को उनकी हैसियत बताते रहें। ये लोग यह जानते थे कि संस्था के विभिन्न स्तरों पर बैठे जिन लीडर से शिकायतें की जा सकती हैं, वे भी सवर्ण हैं और पुरुष भी और सबसे बड़ी बात कि वे भी ऐसी ही मानसिकता रखते हैं, इसलिए वंचित और महिला कर्मियों में से कोई उनके घृणित-व्यवहार या विचारों की शिकायत करके अपनी नौकरी गवाँना नहीं चाहेगा।

ये बच्चे भी उस दिन अपना उक्त होमवर्क करके नहीं आये थे, यानी किसी साक्षात्कार के दौरान पूछे जाने वाले प्रश्नों की सूची। तब सुरेश ने उनको मौखिक प्रश्न बनाने को कहा, लेकिन आत्म-विश्वास से रहित बच्चे यह भी नहीं कर पाए, केवल बेबस-दृष्टि और अपराध-भाव से कभी सुरेश का, तो कभी सुनीता का, और कभी एक-दूसरे का मुँह ताकते रहे। इसी तरह लगभग पंद्रह-बीस मिनट बीत गए। सुनीता बच्चों की समस्या समझ रही थी, क्योंकि वह भी तो ऐसी परिस्थितियों और समस्याओं से जूझते-लड़ते हुए यहाँ तक पहुँची थी। उसने अपने विद्यार्थी-जीवन में अपनी कक्षा में अपने जैसे विद्यार्थियों को भी ऐसी समस्याओं से दो-चार होते सैकड़ों बार देखा था। इसलिए वह जानती थी कि बच्चे क्यों खामोश हैं।

सुरेश की एक और खासियत थी, बच्चों के साथ काम करते समय वह समस्या को तो सामने रख देता था, लेकिन बच्चों को न तो कभी उसके समाधान के लिए प्रोत्साहित करता था, न उनका हौसला ही बढ़ाता था और न उनको समाधान तक पहुँचने के लिए कोई रास्ता ही दिखाता। वैसे भी इन बच्चों से या उनके भविष्य से उसे क्या लेना-देना, उसे तो केवल समाज-सेवा का दिखावा भर करना है, अपनी संस्था के अन्य लोगों की तरह...

सुनीता, संस्था में नई होने और उसकी कार्य-प्रणाली से अनभिज्ञ होने के कारण काफी देर तक खामोश रही। जब उससे बच्चों की बेबस आँखें सहन नहीं हुई तो उसने पहल करने की सोची और सुरेश के पास जाकर धीरे से इसकी अनुमति माँगी। सुरेश अपने मन में हँसा–"ये पिद्दी-सी लड़की क्या कर लेगी?" उसे पूरा विश्वास था कि जो काम वह स्वयं अनुभवी और काबिल होकर भी इतने समय में नहीं कर पाया, वह दिल्ली जैसे विकसित शहर में सुविधाओं के बीच रहनेवाली ये लड़की क्या कर लेगी? गाँव के बच्चों के साथ काम करना इतना आसान है क्या? बड़े-बड़ों के पसीने छूट जाते हैं। लेकिन उसके मन में सुनीता का तमाशा बनते देखने की इच्छा हुई, इसलिए उसने अनुमति दे दी।

सुनीता ने बच्चों की ओर देखकर पहले तो एक अच्छी-सी स्माइल दी, बच्चे भी प्रत्युत्तर में कुछ झिझकते हुए-से तनिक-सा मुस्कुराए। मुस्कुराए क्या, मुस्कराने का अभिनय-सा किया। फिलहाल बातचीत शुरू करने के लिए इतना भी पर्याप्त था।

"क्या आप लोग जानना नहीं चाहेंगे कि मैं कौन हूँ? कहाँ से आई हूँ? यहाँ क्यों आई हूँ? क्या करती हूँ? क्या सोचती हूँ? वगैरह-वगैरह?"

कक्षा में कुछ देर तक खामोशी रही, कोई कुछ नहीं बोला, सुनीता ने बच्चों को अपने संकोच और डर से संघर्ष करने और उससे बाहर निकलने का समय दिया। कुछ देर तक इंतजार करने के बाद उसकी बात का सहारा पाकर आठवीं कक्षा की छात्रा संध्या ने कुछ झिझकते हुए ही पूछा-"हाँ मै'म, मैं कल से जानना चाहती हूँ, आपके बारे में। लेकिन कैसे पूछती? कहीं आप गुस्सा हो जातीं और हमारी शिकायत कर देतीं, हमारी मै'म से, तो...?"

"नहीं, बच्चो, न तो मैं गुस्सा होऊँगी किसी से भी; और न ही आपकी टीचर से या किसी से भी आपकी शिकायत करूंगी। आप लोग जो भी मेरे बारे जानना चाहते हैं, इत्मिनान से पूछिए, बेखौफ होकर।" सुनीता ने बच्चों को आश्वस्त किया, बच्चों के चेहरों पर थोड़ी देर पहले दिखने वाला तनाव कुछ ढीला पड़ने लगा।

"मै'म, आपका नाम क्या है?" छठवीं कक्षा के बलदेव ने कुछ मुस्कुराकर, तो कुछ सकुचाते हुए पूछा-"मेरा नाम सुनीता है।"

"मै'म, आप पौड़ी के हो?" सातवीं कक्षा की कौशल्या भी कुछ उत्साहित-सी हुई।

"नहीं, मैं पौड़ी की रहनेवाली नहीं हूँ, बाहर से आई हूँ।" सुनीता ने जानबूझकर तत्काल अपने पिछले निवास-स्थान का नाम नहीं बताया।

"तो आप कहाँ से आये हो?" सातवीं कक्षा के छात्र संदीप को जिज्ञासा हुई। सुनीता को एक और सवाल के रूप में इसी सवाल के पूछे जाने का इंतजार था, ताकि बच्चों की जिज्ञासाएँ उनके मन से बाहर आ सकें

"मैं दिल्ली से आई हूँ"

अब बच्चे धीरे-धीरे खुलने लगे...

"मै'म, वो तो बहुत दूर है।" छठवीं कक्षा की आशिमा की आँखों में आश्चर्य साफ-साफ दिखाई दिया।

"हाँ, है तो थोड़ी दूर, लेकिन बहुत दूर नहीं, केवल थोड़ी दूर है।"

"मै'म, आप वहाँ क्या करती थीं? सातवीं कक्षा के आसिफ ने जानना चाहा।

"मैं वहाँ पढ़ती थी और बाद में पढ़ाती भी थी।"

"मै'म, आप वहाँ भी हमारे जैसे बच्चों को ही पढ़ाती थीं?" आठवीं कक्षा की निधि पूछती है।

"नहीं बच्चो, आप लोगों से थोड़े बड़े होते थे वे। वे कॉलेज में पढ़ते थे, मैं उन्हीं को पढ़ाती थी।"

"मै'म, क्या हम भी उस कॉलेज में पढ़ सकते हैं, जहाँ आप पढ़ाती थीं?" निधि के साथ बैठी उसी की सहपाठी संध्या ने कुछ सोचते हुए पूछा। उसकी आँखों में शायद कोई सपना तैर रहा था।

"बिल्कुल पढ़ सकते हैं, जरूर पढ़ सकते हैं! आप लोग किसी भी कॉलेज में पढ़ सकते हैं।"

"मै'म, मेरी बहुत इच्छा है कि मैं भी किसी अच्छे वाले बड़े-से कॉलेज में जाकर पढ़ूँ! मेरे पापा जिस दुकान में काम करते हैं, उसके मालिक का बेटा बहुत बड़े कॉलेज में पढ़ता है। मैं भी कॉलेज में पढ़ना चाहती हूँ। क्या आप मेरी मदद करोगे?" संध्या काफी उत्सुक दिखी, कॉलेज के नाम से।

"जरूर, बच्चो, ...और आप लोग यदि खुद पर विश्वास करेंगें, तो आपको किसी की भी मदद की जरूरत नहीं पड़ेगी। आप स्वयं वहाँ तक पहुँच जाएँगे। बस अपने-आप पर विश्वास करने की जरूरत है। ...और विश्वास कैसे आएगा? जब आप लोग यह सोचने लगेंगे कि जो बातें आपके मन में उठ रही हैं, वे भी सही हो सकती हैं। जैसे, जो सवाल अभी-अभी आप लोगों ने मुझसे पूछा, वे सवाल भी साक्षात्कार के सवाल हो सकते हैं, जो आपको कल सर (सुरेश की ओर हाथ से इशारा करके) के द्वारा होमवर्क में दिया गया था।"

थोड़ी देर के लिए कक्षा में खामोशी-सी छाई रही, शायद बच्चे उस होमवर्क के विषय में सोच रहे थे, जो सुरेश ने उनको कल दिया था। शायद बच्चे उस होमवर्क और अपने सवालों के परस्पर संबंधों को समझने की कोशिश कर रहे थे। सुनीता ने जानबूझकर उनको उनकी चुप्पी के साथ रहने दिया, वह चाहती थी कि बच्चे किताबी-दुनिया और वास्तविक-दुनिया के अभिन्न-संबंधों को समझ पाएँ। तभी एक छात्रा के सवाल ने उस सन्नाटे को तोड़ा...

"मै'म, क्या आप हमेशा से टीचर ही बनना चाहती थीं?" आठवीं कक्षा की छात्रा निधि को अचानक जैसे कुछ याद आया हो।

"क्या आपके पापा भी आपको टीचर ही बनाना चाहते थे?" लगे हाथ आठवीं के आफताबने भी अपनी जिज्ञासा जाहिर कर दी। शायद वह भी इस सवाल को मन में देर से रखे हुए था और सोच रहा था कि पूछे या न पूछे, लेकिन अपनी सहपाठी द्वारा पूछे जाने पर उसको जैसे बल मिला।

"हाँ, मैं हमेशा से टीचर ही बनना चाहती थी, लेकिन मेरे पिताजी मुझे जज बनाना चाहते थे। वे नहीं चाहते थे कि मैं टीचर बनूँ। जज की हमारे समाज में बहुत इज्जत होती है ना! इसलिए मेरे पिताजी मुझे जज बनाना चाहते थे।" सुनीता ने कहा।

"तो आपके पापा आपसे गुस्सा नहीं हुए, जब आपने उनको बताया कि आप टीचर बनना चाहती हैं?" छठी कक्षा के विनोद ने हैरानी से पूछा।

"हाँ, गुस्सा तो हुए, लेकिन मैंने उनसे एकदम स्पष्ट कहा कि मुझे टीचर ही बनना है और वे आखिरकार मान गए (कुछ सेकेंड रुककर) हम सबको अपने लिए खुद ही सपने देखने चाहिए ...और हमें सपने जरूर देखने चाहिए ...तभी हम अपने सपनों के लिए पूरे मन से कोशिश कर पाएँगे!" सुनीता ने बच्चों को समझाया। पिता से विद्रोह जैसी बात पर बच्चे तनिक अचंभित थे।

"आप लोगों ने भी तो सपने देखे होंगे अपने लिए!" सुनीता ने अचानक बात का रुख मोड़ दिया, अब वह सवाल करने लगी और बच्चों को जवाब देने को उकसाया।

बच्चे एकदम से चौंके और खामोश हो गए, जैसे अचानक इस धारा-परिवर्तन से उनके मष्तिष्क में खलबली मच गई हो और वे समझ नहीं पा रहे हों कि वे किस दिशा में हैं। अथवा उनकी दुखती रग पर जैसे किसी ने हौले-से हाथ रख दिया हो, जिससे उनका दर्द एकदम से उभर गया हो और साथ ही जिसमें कोई लेप-सा रखने का एहसास भी शामिल हो; जिससे वे आहत भी हो गए हों और कोई राहत-सी भी मिली हो। शायद पहली बार उन हालात के मारे बच्चों से किसी ने उनके सपनों के बारे

में पूछा था। उनको उत्साहित करने के लिए सुनीता ने अपनी बात दुहराई—“बताइए बच्चो! जरूर आप सबने भी कोई-न-कोई सपना देखा ही होगा अपने लिए। चलिए, आज हम इसी विषय में बात करते हैं कि आप लोग क्या करना चाहते हैं बड़े होकर।”

अचानक सुरेश पर नजर पड़ने पर सुनीता ने देखा कि उसके चेहरे पर कुछ अलग-सी रेखाएँ उभरने लगीं थी, लेकिन ये कैसी रेखाएँ थीं और क्यों, यह वह समझ नहीं पाई, इसलिए उसने उधर से ध्यान हटाकर बच्चों के सामने अपना प्रश्न दुहरा दिया—“तो सभी एक-एक करके बताइए... बड़े होकर कौन क्या करना चाहता है?”

सुनीता जानती थी कि इस काम में काफी कोशिश की जरूरत थी, इसलिए उनसे धैर्य से बच्चों के उत्तर की प्रतीक्षा की। लगभग आधे-पौन मिनट तक कक्षा में सन्नाटा पसरा रहा, बच्चों के चेहरों पर अनेक भाव आ-जा रहे थे, जैसे वे भीतर-ही-भीतर अपने-आप से संघर्ष कर रहे हों। शायद वे सोच रहे थे कि अपने सपनों के बारे में कहें या न कहें। उनके जीवन में यह पहला मौका था जब किसी ने उनके सपनों के बारे में उनसे पूछा था। कोशिश आखिरकार रंग लाई, लगभग आधे-पौन मिनट के इंतजार के बाद एक जवाब आया, संदीप की कुछ उत्साहित-सी आवाज ने सन्नाटे को भंग करके सबको चौंका दिया—“मै'म, मैं फौज में जाऊँगा, दुश्मनों के छक्के छुड़ा दूँगा मैं तो वहाँ ....!” इस शुरुआत के बाद तो जैसे झड़ी लग गई।

“मै'म, मैं टीचर बनना चाहती हूँ। मुझे मेरी साधना मै'म, बहुत अच्छी लगती हैं, वे हमको बहुत प्यार करती हैं और हमें बहुत सारी नई चीजें सिखाती हैं। मैं भी उन्हीं की तरह अच्छी टीचर बनना चाहती हूँ। मैं बच्चों को प्यार से पढ़ाऊँगी और उनको मारूँगी भी नहीं, और न डाँटूँगी!” अपने सहपाठी की पहल से कौशल्या को भी बोलने का हौसला मिला

“मै'म, मैं बड़ा होकर वो वाली पढ़ाई करूँगा, जिसमें पुल बनाते हैं। वो देखिए मै'म'', एक बच्चे ने सामने श्रीनगर की ओर जाने वाले पहाड़ों में काटकर बने रास्ते की ओर उंगली से इशारा करते हुए कहा—“श्रीनगर कितना नजदीक है, लेकिन हमें पहाड़-पहाड़ होते हुए जाना पड़ता है, बहुत ज्यादा घूमकर, तीस किलोमीटर से भी अधिक। इसलिए श्रीनगर पहुँचने में बहुत अधिक समय लगता है, कभी-कभी एक घंटे से भी ज्यादा। मैं पौड़ी से श्रीनगर तक यहाँ से'' उसने फिर ऊँगली से उस तरफ इशारा करते हुए कहा—“सीधा पुल बनाऊँगा, फिर हम जल्दी पहुँच जाएँगे, क्योंकि तब हमको बहुत कम चलना पड़ेगा, केवल तीन-चार किलोमीटर।” उसने अपनी चहकती आवाज में आगे कहा—“फिर तो हम श्रीनगर पैदल भी चले जाएँगे, घूमते हुए। मैंने टीवी में ऐसा पुल देखा है, बहुत मजा आता है, मै'म, ऊपर से देखने पर। फिर सब लोग पहाड़ को ऊपर से देख सकेंगे, बहुत मजा आएगा।” सूरज ने धारा प्रवाह अपने दिल की बात कह दी, उत्साह से खिले उसके चेहरे की चमक देखने लायक थी।

“मै'म, मैं डॉक्टर बनना चाहती हूँ... पौड़ी में अच्छे डॉक्टर नहीं हैं... जो हैं, वे बहुत अधिक पैसा लेते हैं, इसलिए कई बार मैं या मेरी मम्मी बीमार पड़ते हैं तो हम हॉस्पिटल भी नहीं जाते हैं। जिला अस्पताल में तो बहुत भीड़ होती है, हमको घंटों लाइन में खड़ा रहना पड़ता है। इसलिए मैं खूब पढ़ूँगी और अच्छी डॉक्टर बनूँगी और सबका मुफ्त में इलाज करूँगी।” छठवीं कक्षा की सपना ने अपने सोये हुए सपने को जैसे हौले-से थपथपाया हो।

“मैं तो पुलिस बनूँगा, मै'म! मैं तो सबकी रक्षा करूँगा। अपने दोस्तों को बाघों से भी बचाऊँगा और बदमाशों से भी।” छठी कक्षा के रोहित की अपनी सीट पर ही बैठे-बैठे फड़कती भुजाएँ और चेहरे पर खिलता आत्मविश्वास कह रहा था, जैसे वह आज ही पुलिस बनकर मानेगा, थोड़ी देर पहले दिखने वाली दीनता अब उसके चेहरे से भी नदारद थी

तभी अचानक कक्षा में एक विस्फोट-सा हुआ...! बच्चों की शिक्षा के लिए काम करनेवाली संस्था के समाज-सुधारक और उस समय अपनी संस्था का प्रतिनिधि सुरेश बलूनी की गरजती आवाज कक्षा में गूँज रही थी...

“अच्छा! तुम सब टीचर, इंजीनियर, फौजी या डॉक्टर ही क्यों बनना चाहते हो? तुममें से किसी ने भी ये क्यों नहीं कहा कि वो सफाईकर्मी या किसान बनना चाहता है? क्या सफाईकर्मी या किसान बनना बुरी बात है?”

अचानक जैसे सुन्दर सपनों में खोये बच्चों के ऊपर किसी ने खौलता पानी डाल दिया हो। सुरेश लगभग चीखते हुए कठोर-कर्कश भाषा में बच्चों को लगभग डाँट रहा था। बच्चे अचानक इस विस्फोट से सन्नाटे में आ गए, जैसे उनके हाथों कोई बड़ा भारी अपराध

हो गया हो। भयभीत आँखों से सुरेश की ओर देखने लगे। सुनीता भी डर गई, उसे तत्काल यही लगा कि उससे अंजाने में कोई अपराध हो गया, कोई बड़ा अपराध! बच्चे और सुनीता, दोनों ही सकते में थे। लेकिन उनमें से किसी को समझ में नहीं आया कि उन्होंने क्या गलती की, सबसे अधिक सुनीता असमंजस में थी और कुछ डरी हुई भी, लेकिन विस्फोट की गर्जना अपने रौ में थी।

"क्या तुम लोग नहीं जानते कि सफाईकर्मी या किसान बनना ही सबसे अधिक जरूरी काम है? तो तुममें से किसी ने भी क्यों नहीं कहा कि वो सफाईकर्मी या किसान बनना चाहता है?"

सुरेश उसी तरह गरज रहा था, बच्चों की आँखों में थोड़ी देर पहले तक दिखने वाली स्वप्निल चमक गायब थी, उसकी जगह अब भय की रेखाएँ खिंच गयीं थीं। सुरेश ने चोर नजर से सुनीता की ओर देखते हुए निःसंकोच निर्णय-सा सुनाया– "एक बात तुम लोगों को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि पढ़े-लिखे लोग ही सबसे ज्यादा अपराध करते हैं! हमारे समाज को पढ़े-लिखे लोगों की कोई जरूरत नहीं है। जितने भी बड़े-बड़े अपराध हैं, वो सब ये पढ़े-लिखे लोग ही करते है।" बोलते हुए वह तत्काल संभला और स्थिति को भाँपकर और इस डर से कि कहीं उसकी तेज और कठोर आवाज सुनकर बगल के कमरे में बैठी बच्चों की अध्यापिकाएँ वहाँ न आ जायँ और उसके व्यवहार पर ऐतराज न करने लगें, सुरेश ने अपनी आवाज को तनिक मुलायम बनाने की कोशिश की, किंतु उसकी वाणी की तिक्तता और कठोरता यथावत् कायम रही, केवल स्वर तनिक धीमा हुआ–"अब एक बात तुम लोग बताओ मुझे डॉक्टर की जरूरत हमें कब पड़ती है?"

सहमे हुए बच्चे खामोश रहे, केवल रह-रहकर सुनीता की ओर देख रहे थे, लेकिन किसी भी विद्यार्थी ने एक भी शब्द कहने की हिम्मत नहीं की। सुनीता भी खामोश थी, एक तो उसको समझ में ही नहीं आ रहा था कि गलती कहाँ और क्या हुई, और दूसरे, उसे डर लगा कि कहीं इस समय बीच में बोलने या सुरेश को टोकने से उसकी इस नई-नई नौकरी पर खतरा न पैदा हो जाए, आखिर सुरेश यहाँ का स्थापित और पुराना स्थानीय कर्मचारी है। सुरेश अब उस शातिर बिल्ली की तरह खेलने लगा, जो अपने अर्द्ध-मृत शिकार चूहे को खाने से पहले उससे खेलती है

"जब हम बीमार पड़ते हैं।" बच्चों को खामोश देखकर सुरेश ने स्वयं ही अपने सवाल का जवाब दिया। लेकिन उसके जवाब पर भी डरे हुए बच्चे चुप रहे, 'हाँ' 'ना' कुछ भी नहीं कहा। इसकी परवाह किए बिना सुरेश का सवाल करना और स्वयं उनके जवाब देना जारी रहा– "और हम बीमार क्यों पड़ते हैं?" वह कुछ सेकेंड रुका और फिर आगे बोलना शुरू किया– "गंदगी के कारण!" अपने सवाल का स्वयं ही जवाब दे-देकर संतुष्ट सुरेश को विश्वास हो गया कि वह तार्किक बात कर रहा है–"बोलो! क्या मैं सही नहीं कह रहा हूँ?" अब उसने बच्चों से भी अपनी बात का समर्थन करवाने के लिए उन पर परोक्षतः दबाव डालना शुरू किया।

"जी!" इस बार बच्चे बोले, डरे हुए बच्चे समर्थन करने को बाध्य थे।

"और यदि गंदगी न रहे, तो कोई बीमार पड़ेगा...?"

"नहीं!" बेबस बच्चे समवेत स्वर में समर्थन करने लगे, थोड़ी देर पहले बच्चों के सपनों से आहत सुरेश के चेहरे पर छाए तनाव के चिह्न अब कम होने लगे और उसकी जगह स्वादिष्ट भोजन कर रहे व्यक्ति की-सी संतुष्टि अपनी जगह बनाने लगी।

"तो गंदगी साफ कौन करेगा?... सफाईकर्मी...!" सवाल और जवाब का यह खेल सुरेश पूरी सफलतापूर्वक खेल रहा था, जिसमें सवाल भी उसके थे और जवाब भी उसी के तय किए हुए थे।

"जी!" बच्चे केवल समर्थन करने को मजबूर थे।

"तो जरूरत किसकी है? सफाईकर्मी की!" अब सुरेश के चेहरे पर कुटिल संतुष्टि का भाव साफ-साफ देखा जा सकता था।

"और जब बहुत सारे सफाईकर्मी होंगे और वे सब अपना काम ईमानदारी से करेंगे, तो क्या कोई भी बीमार पड़ेगा? नहीं! और जब कोई बीमार ही नहीं पड़ेगा, तो क्या डॉक्टर की जरूरत पड़ेगी?... नहीं! इसलिए हमें डॉक्टर की नहीं, सफाईकर्मी की जरूरत है। हमारे प्रधानमंत्रीजी भी तो यही कहते हैं! है ना?" बच्चों को इस प्रकार सपनों का नया पाठ पढ़ाया जाता देख सुनीता हैरान थी।

"जी!" उन्होंने वह कहा जो कहने के लिए बच्चे बेबस थे। सुरेश ने अपनी बात जारी रखी।

"और... इसके अलावा, स्वस्थ रहने के लिए अच्छा खाना खाने की जरूरत

होती है। बोलो होती है या नहीं?"

"जी!"

"और खाना कहाँ से आता है? खेत से। खेत में अनाज कौन पैदा करता है? किसान। और यदि किसान न हो, तो क्या होगा? अनाज पैदा नहीं होगा। अनाज पैदा नहीं होगा, तो लोग भूख से बीमार पड़ेंगें! तो किसकी जरूरत है? किसान की, जो अनाज पैदा कर सके। क्यों? क्या सही नहीं कहा मैंने?" सुरेश अब यह खेल एक माहिर खिलाड़ी की तरह खेल रहा था, अपने गढ़े गए सवालों और जवाबों का वह बड़ी चतुराई से प्रयोग कर रहा था।

"जी!"

"और एक बात बताओ, जब हमें भरपेट खाने को मिलेगा और चारों तरफ अच्छी साफ-सफाई रहेगी, तो आदमी स्वस्थ रहेगा ही! और जब सब लोग स्वस्थ रहेंगे, तो कोई भी तीन-चार क्या, तीस-चालीस किलोमीटर भी पैदल चल सकता है। और पैदल चलना तो सेहत के लिए बहुत फायदेमंद होता है! बाबा योग वाले और दूसरे लोग भी तो कहते हैं! तो पौड़ी से श्रीनगर पुल बनाने की कोई जरूरत नहीं है।" सुरेश ने जैसे अपना फैसला सुनाया, जैसे उसे भय हो कि कहीं वह बच्चा कल ही पौड़ी से श्रीनगर तक पुल न बना दे। उसकी बात में 'हाँ' में 'हाँ' मिलाने के अलावा कोई और विकल्प बच्चों के पास था ही नहीं, उन्हें मानना ही था।

"जी!" बच्चों ने उसकी हाँ में हाँ मिलाई।

अब उसने पूरे संतुष्ट-भाव से आँखों में जीत का गर्व भरकर रीढ़ को एकदम तानकर सीधा बैठते हुए सुनीता की तरफ देखा और इसी के साथ उसके सवालों का रुख भी बदल गया।

"और तुम लोग तो देखते ही हो टीवी में कि जितने बड़े-बड़े क्राइम हैं, जितने बड़े-बड़े घोटाले हैं, वो सब पढ़े-लिखे लोग ही करते हैं, इसलिए आदमी यदि नहीं भी पढ़ेगा, तो भी कुछ नुकसान नहीं होगा। इसलिए टीचर या प्रोफेसर की भी हमारे समाज को खास जरूरत नहीं है। टीचर या प्रोफेसर बनने से ज्यादा जरूरी है अच्छा इंसान बनना। और यदि सब लोग अच्छे इंसान बन जाएँगें, तो पुलिस और फौज की भी जरूरत नहीं पड़ेगी, इसलिए तुम्हारा सपना पुलिस या फौजी अथवा जज बनने का भी नहीं होना चाहिए।"

उसका निशाना था सुनीता की उच्च-शिक्षा पर परोक्षतः व्यंग्य करना और उसका प्रभाव सुनीता के दिलो दिमाग पर होता हुआ देखना। असल में उसकी यह भी एक खासियत थी कि वह जब अपने किसी विरोधी या जिसे वह नापसंद करता था, उसके खिलाफ कोई जाल बुनता था और उक्त विरोधी को उसकी मजबूरी का एहसास दिलाना चाहता था तो वह ऐसी ही चोर-नजर से उसकी ओर देखता। उसके तर्कों से हैरान सुनीता को अब उसकी नीयत पर संदेह होने लगा।

"जी!" उसके सवालों-जवाबों पर बच्चों का पहले की ही तरह बेबस समवेत स्वर "...इसलिए तुम सबको केवल किसान या सफाईकर्मी बनने का ही सपना देखना चाहिए! वही तुम सबके लिए सबसे सही है!" सुरेश का मंतव्य अब स्पष्ट होने लगा था।

"जी!" पीढ़ियों से डरे-डराए गए वंचित-बच्चे सुरेश की बातों का केवल समर्थन करते रहे।

कक्षा में बच्चों की 'शिक्षा को बढ़ावा' देकर 'सस्टेनेबल सोसाइटी' बनाने का यह कार्यक्रम लगभग डेढ़-दो घंटे तक चला। उसके बाद सुरेश और सुनीता वहाँ से निकलकर ऑफिस बैठी अध्यापिकाओं से अनुमति लेकर अपने ऑफिस की ओर चले। सुनीता के मन में गहरी उथल-पुथल मची हुई थी, उसके मन में दर्जनों प्रश्न घूम रहे थे-कि सुरेश ने ऐसा क्यों किया? कि यदि सभी बच्चों को सपने देखने का हक है तो बच्चों को सुरेश ने क्यों रोका? कि यदि उक्त संस्था बच्चों की शिक्षा के लिए काम रही थी तो फिर इस व्यवहार का मतलब क्या था? सुनीता ने अपने मन में चल रही उथल-पुथल से परेशान होकर थोड़ी देर खामोश रहने के बाद अपने मन की शंकाओं को सुरेश के सामने रखना चाहा।

"सर, आपने बच्चों को सपने देखने से क्यों रोका?"

"रोका कहाँ मैंने? उनको सपने देखने को तो मैंने कहा ही! सपने देखें, खूब देखें, ...लेकिन सफाईकर्मी या किसान बनने के सपने देखें!" सुरेश ने आत्मविश्वास-भरी कुटिलता से कहा।

"लेकिन क्यों उनको केवल सफाई-कर्मी या किसान बनने का ही सपना देखना चाहिए, कोई और सपना क्यों नहीं? सुनीता के स्वर में आरोप था, जिसे सुरेश ने बखूबी भाँप लिया, लेकिन वह अपनी ताकत और निर्बाध अधिकारों के प्रति अति-आश्वस्त था, जो समाज के केवल कुछ लोगों या समुदायों को ही परंपरागत रूप से हासिल रहे हैं।

"क्योंकि यही काम उनके समाज के लोग करते हैं।" वह कुछ पल

रुककर आगे बोला—"और सफाई करना कोई बुरी बात थोड़े ना है, सुनीता? कोई भी काम बड़ा या छोटा नहीं होता, सब काम बराबर होते हैं।" आरोप से विचलित हुए बिना ही सुरेश ने बड़ी ही ढिठाई और कुटिलता से जवाब दिया, हालाँकि उसे एक महिला को सफाई देना नागँवार गुजर रहा था।

"यदि सभी काम बराबर होते हैं, तो वे बच्चे क्यों सफाईकर्मी और किसान बनने के अलावा कोई दूसरा सपना नहीं देख सकते? क्या सामान्य वर्गों के बच्चों को भी आप सफाईकर्मी और किसान बनने की नसीहत देंगे?" सुनीता के स्वर में दु:ख-जनित आक्रोश आने लगा था।

अपनी उम्मीद के विपरीत उसे संस्था का यह एक नया चेहरा देखना बेहद कष्टदायी था। संस्था शिक्षा के क्षेत्र में महान कार्य कर रही थी, इस बात से प्रभावित होकर इसमें आई थी। संस्था पर उसके विश्वास को ठेस लगी, वह असमंजस में थी। पता नहीं यह संस्था का विचार है या केवल सुरेश की ही सोच ऐसी है... उसके मनोभावों को महसूस करते हुए सुरेश ने तत्काल अपना पैंतरा बदला।

"अरे सुनीता, तुम समझीं नहीं... मैं ये कह रहा हूँ कि ये बच्चे गरीब हैं, ऊँची पढ़ाई और ऊँचे सपने के लिए काफी पैसा लगता है, इनके गरीब माँ-बाप कहाँ से उतने पैसे लाएँगे, तुम जरा ठंढे दिमाग से सोचो!"

विश्वास पर पड़ी चोट से आहत सुनीता ने तनिक गुस्से में कह दिया—"ये तो इनके माता-पिता को सोचना है ना। सर! हमें इसकी चिंता करने की बजाय इनकी पढ़ाई-लिखाई पर ध्यान देना क्या ज्यादा ठीक नहीं होगा? हमारा काम तो बच्चों को सपने दिखाना और उसके लिए मेहनत करने को प्रेरित करना ही है, है ना? उनके भविष्य के लिए पैसों की व्यवस्था तो दूसरी समस्या है। वैसे भी जब कोई भविष्य के लिए सपने बुनता है, तभी वह उसके लिए कोशिश भी करता है। यदि कोई सपने ही नहीं देखेगा तो किस बात के लिए मेहनत करेगा?" वह एक साँस में कह गई।

उसके क्रोध-भरे तर्क सुन सुरेश आपे से बाहर हो गया और उसी क्रोध में झल्लाकर अपने मन का वह कलुष सत्य उगल दिया, जो उसके समाज की विशेषता है—"अरे तुम समझती क्यों नहीं, सुनीता! ये बच्चे जिस समाज के हैं, यदि वे भी हमारी तरह बड़े-बड़े सपने देखने लगेंगे, तो हमारे समाज के लिए खतरा पैदा कर देंगें; फिर हमारे बच्चों का और हमारे समाज का क्या होगा? वैसे भी इन आरक्षणवालों के कारण हर चीज पर हमारा अधिकार आधा रह गया है, इसलिए यही अच्छा होगा कि ये बच्चे केवल सफाईकर्मी या किसान बनने का ही सपना देखें। हमारे लिए भी यही ठीक है और इनके लिए भी यही ठीक होगा।" कहते हुए उसने अपने स्वर को संयमित किया। समाज में इससे शांति और संतुलन बना रहता है। मैंने इसीलिए उनको कोई और सपना देखने से मना किया।"

सुनीता की बात ने सुरेश बलूनी की उस रग पर हाथ रख दिया था, जो उसके ब्राह्मण-वर्ग के अधिकांश लोगों की दुखती रग थी और जो संविधान में वंचित-समाजों के लिए 'आरक्षण' के प्रावधान से चोटिल थी। साथ ही, ब्राह्मण होने के कारण परंपरागत रूप से उसमें मौजूद दु:साहस के बल पर ये बातें उसने इतनी बेबाकी से कह भी दी। इतना ही नहीं, निश्चित रूप से उच्च-शिक्षित सुनीता की अकादमिक उपलब्धियों को देखकर संस्था के अन्य लोगों की तरह उसने भी यह मान लिया था कि वह भी सवर्ण-समाज से है, संस्था ने उसके सेलेक्शन के दौरान उससे उसकी जाति नहीं पूछी थी, इसलिए कोई नहीं जानता था कि वह वंचित-समाज की बेटी है,सवर्ण नहीं। और सवर्ण-समाज का यह अंधा विश्वास है कि 'मेरिट' यानी काबिलियत केवल सवर्णों के पास होती है, दलितों-आदिवासियों के पास कोई मेरिट नहीं होती। शायद इसीलिए वह इतनी बेबाकी से ये बातें उससे कह गया।

अब तक सुनीता उस ब्राह्मण-पुरुष के मन के चोर को साफ-साफ देख चुकी थी और समझ चुकी थी कि अन्य ब्राह्मणों की तरह सुरेश बलूनी भी 'समाजसेवक' का मुखौटा पहनकर वंचित वर्गीय-बच्चों के सपनों की हत्या विभिन्न पैंतरों से करने की कोशिश में लगा हुआ है। अभी भी सुनीता के लिए इस संस्था के असली चरित्र को समझना बाकी था, इसलिए उसने पूछा—"हमारी संस्था तो समाज के सभी बच्चों की शिक्षा के लिए काम करती है ना?"

उसके इस प्रश्न से सुरेश भड़क गया और उसकी भाषा धमकाने वाली हो गई—"देखो मैडम, (चलते-चलते रुककर उसे ऊँगली दिखाते हुए) तुम्हें इतना अधिक सोचने की जरूरत नहीं

शेष भाग पृष्ठ 68

'ओरिजिन' निदेशक एवा दुवने, निर्देशक थरुन थंकाचन की फिल्म "Beyond the Unwritten", निर्देशक राम दास की फिल्म "Sathyappullu", निदेशक के. एस. किरण की फिल्म "Danshur" का प्रदर्शन किया गया।

महासंगीति के गुरु घासीदास सभागार में 'युवा अनुसंधान कारवां' का आयोजन किया गया। युवा शोधार्थियों द्वारा विभिन्नत सामाजिक विज्ञान विषयों में विषय विशेषज्ञ मू. के एस चौहान, मू. आर एस राम, प्रो. नीलिमा बागड़े के समक्ष प्रस्तुत किये गए। दिल्ली विश्वविद्यालय के राजनीति विभाग से मू. शिव पीलवान, दिल्ली विश्वविद्यालय के अर्थशास्त्र विभाग से पी.एचडी शोधार्थी मू. वैभव खरात, दारून हूदा इस्लोमिक विश्व विद्यालय से हसनूर इस्लाम, मदरसा तूल फरीया, पश्चिम बंगाल से ए के शराफत, इंदिरा गांधी राष्ट्रीय जनजाति विश्वविद्यालय, अमरकंटक से हेमचंद खोबर्डे, दिल्ली विश्वविद्यालय के राजनीति अनुभाग से मानव गावडे ने अपने-अपने शोधपत्र का वाचन किया। इस कार्यक्रम का मुख्य उद्देश्य युवाओं को सामाजिक परिवर्तन हेतु अनुसंधान के लिए प्रेरित करना था।

अजंता कला दालन में चित्रकला और शिल्पकला का विशेष प्रदर्शनी लगाई गई । इसमें मूलनिवासी नंदकुमार जोगदंड (प्रसिद्ध चित्रकार), मूलनिवासी महेंद्र खाजेकर (प्रसिद्ध रंगोलीकार एवं चित्रकार), मूलनिवासी ज्योति अबूटे (प्रसिद्ध शिल्पकार), मूलनिवासी अंकुश बनसोडे (प्रसिद्ध चित्रकार एवं रंगोलीकार) ने विशेष भूमिका निभाई।

सभी राज्यों के प्रतिनिधियों ने राज्यवार कलाचारिक झांकी का आयोजन जलूस में किया। यह जलूस बाबा साहेब डॉ. आंबेडकर की मूर्ति, सांची से सांची स्तूप तक अपने-अपने राज्यों के पारंपरिक वेशभूषा और गीत-संगीत के साथ निकाला गया, जो उत्कृष्ट सभ्यता रैली के रूप में सुशोभित हो रही थी।

मुख्य पंडाल में पंजाब राज्य द्वारा प्रस्तुत नाटक 'बाबासाहेब' और दिल्ली राज्य द्वारा प्रस्तुत नाटक 'गुलामी' का मंचन किया गया। शाम को प्रख्यात फूले-अंबेडकरवादी रैप गायक विपिन तातड और साथियों की प्रस्तुति मुख्य आकर्षण रही।

कलाचारिक प्रस्तुति के साथ विशेष प्रस्तुति के लिए विभिन्न राज्यों के कलाकारों एवं प्रतिनिधियों को सम्मानित एवं पुरस्कृत किया गया। समापन सत्र में मूलनिवासी सुनील कुमार (राष्ट्रीय अध्यक्ष , मूलनिवासी सभ्यता संघ) द्वारा लोगों को संघ की ओर से विशेष संदेश दिया गया। अंत में मूलनिवासी अजय कुमार मांझी (राज्य अध्यक्ष, मूलनिवासी सभ्यता संघ, मध्य प्रदेश) द्वारा लोगों का आभार व्यक्त किया गया और कार्यक्रम की समाप्ति की घोषणा की गई।

शेष भाग पृष्ठ 65

लगता है कि तुमने शायद अभी तक काम नहीं किया है समाज में उतरकर; इसलिए तुम समाज को ठीक से नहीं समझती हो। अभी तुम्हें बहुत कुछ सीखने की जरूरत है! लगता है कि तुम्हारे पास केवल कागजी-डिग्रियाँ ही हैं, समाज की समझ नहीं है तुम्हें। अब तुम यहाँ आ ही गई हो, तो मैं ध ीरे-धीरे सब सिखा दूँगा। तुमने अभी तक केवल यूनिवर्सिटी में काम किया है, और मैं जानता हूँ कि वहाँ कितना और क्या काम होता है। असली काम तुम यहाँ देखोगी और वह मैं तुम्हें सिखाऊँगा, इसलिए अभी तुम केवल चुपचाप देखा करो, मेरे काम में टाँग अड़ाने या ज्यादा बोलने की जरूरत नहीं है, जैसा तुमने आज किया! समझी? एनजीओ में अलग तरीके से काम होता है, यदि तुम्हें यहाँ रहना है, तो तुम्हें कुछ भी बोलने की बजाय जैसा मैं कहूँगा, वैसा ही करना होगा! तुम समझ ही रही होगी कि मैं क्या कह रहा हूँ।" एक साँस में सुरेश बहुत-सी बातें कह गया। उसके आहत अभिमान ने सुनीता को उसकी 'हैसियत', बतौर महिला और बतौर नई कर्मचारी,समझाते हुए और संस्था में अपनी ताकत का एहसास कराते हुए अपना फैसला सुना दिया। सुनीता अब इस संस्था में आने को लेकर असमंजस में पड़ चुकी थी, 'एजुकेशन फॉर सस्टेनेबल एंडइक्वेटेबल सोसाइटी' का नारा बुलंद करनेवाली यह संस्था किस तरह की 'सस्टेनेबल सोसाइटी' बनाने की कोशिश में है? क्या कोई समाज ऐसे ही 'सस्टेन' करेगा, जिसमें वंचित तबका अपने विरुद्ध हो रहे अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध सतत खमोशी की चादर ओढ़े रहे और सुरेश जैसे लोग 'समाज-सेवक', 'समाज-सुधारक' का चमकदार मुखौटा पहने हुए उन बेबस इंसानों के कल्याण के नाम पर अपनी मोटी कमाई करते हुए शान से घूमते रहें?❑

रिपोर्ट

मूलनिवासी सभ्यता संघ द्वारा सांची, मध्य प्रदेश में तीन दिवसीय द्वितीय राष्ट्रीय महासंगीति का सफलतापूर्वक आयोजन

रिपोर्ट : मंगल चंद हांसदा

मूनिटा संवाददाता, सांची, मध्य प्रदेश : मूलनिवासी सभ्यता संघ की ओर से होटल संबोधि इंटरनेशनल, सांची, मध्य प्रदेश में 25 से 27 अक्टूबर 2025 को द्वितीय राष्ट्रीय महासंगीति का सफलतापूर्वक आयोजन किया गया। इसमें भारत के विभिन्न राज्यों से प्रतिनिधियों ने हिस्सा लिया। जिसमें दिल्ली, हरियाणा, उत्तर प्रदेश, झारखंड, मध्य प्रदेश, गुजरात, पंजाब, छत्तीसगढ़ और महाराष्ट्र मुख्य रूप से शामिल थे। महासंगीति में अनेक भांति के कार्यक्रमों का आयोजन किया गया, कलाचारिक, फिल्म प्रदर्शन, नाटक प्रस्तुति और साहित्यिक चर्चाएं। 25 अक्तूबर 2025 (शनिवार) को महासंगीति की शुरुआत संविधान गीत के कोरस गान से हुई। संगीति के उद्घाटन के लिए अद्भूत तरीका अपनाया गया। उद्घाटन का मंच मुख्य पंडाल से अलग बनाया गया। जहां ब्राह्मणवादी सामाजिक परंपरा के प्रतीक चार मटके बड़े से छोटे आकार में एक-दूसरे के ऊपर रखे गये थे, जो शोषककारी वर्ण व्यवस्था के प्रतीक थे, जिन्हें मुख्य उद्घाटक मूलनिवासी शैलेश नरवाडे (फिल्म निर्देशक, जयंती), मुख्य अतिथि एडवोकेट गुरु प्रसाद मदन (उच्च न्यायालय, प्रयागराज), मूलनिवासी सीमा बाबू सिंह वास्कले (राष्ट्रीय प्रभारी जयस, बड़वानी), विशिष्ट अतिथि मूलनिवासी आर. एल.ध्रुव (राष्ट्रीय अध्यक्ष, बामसेफ), मूलनिवासी सुनील कुमार (राष्ट्रीय अध्यक्ष, मूलनिवासी सभ्यता संघ), एडवोकेट के. एस. चौहान (वरिष्ठ अधिवक्ता, सर्वोच्च न्यायालय, नई दिल्ली), डॉक्टर दीपा श्रावस्ती (केंद्रीय कार्यकारिणी, सदस्य, बामसेफ), प्रोफेसर नीलिमा बागडे (केंद्रीय कार्यकारिणी सदस्य, बामसेफ), मूलनिवासी शर्मिष्ठा गौतम (केंद्रीय कार्यकारिणी सदस्य, बामसेफ), डॉक्टर पी. कोमल एवं मूलनिवासी उमेश पटेल (राज्य कार्यकारिणी सदस्य, मध्य प्रदेश, बामसेफ) के द्वारा लाठी से फोड़कर उद्घाटन किया। इसके बाद सभी ने मिलकर समतामूलक आदर्श समाज का प्रतीक नया मटका बनाया गया। उद्घाटन सत्र का मंच संचालन मूलनिवासी अरुणा तिरपुडे (राष्ट्रीय महासचिव, मूलनिवासी सभ्यता संघ) द्वारा किया गया।

उद्घाटन सत्र में ही साहित्यिक वेबसाइट और वेब पत्रिका 'बेगमपुरा : सभ्यता का आह्वान' का बामसेफ के राष्ट्रीय अध्यक्ष मूलनिवासी आर. एल.

ध्रुव के हाथों लोकार्पण भी किया गया।

साहित्य के क्षेत्र में अपना अमूल्य योगदान प्रदान करने के लिए 'जीवन गौरव सम्मान' से डॉ. तारा परमार, मध्य प्रदेश को सम्मानित किया गया। रचनाकर्म के आधार पर पुरस्कार के लिए डॉ. कुसुम वियोगी को 'प्रेरक दलित कहानियां' (दिल्ली) तथा कोरवा भाषा शब्दकोश के लिए मा. हीरामन कोरवा को सम्मानित किया गया।

कार्यक्रम में दौरान श्साहित्य का आंदोलन : आंदोलन का साहित्य' पर चर्चा में बीज भाषण डॉ. राजेंद्र कुंभार (महाराष्ट्र) ने किया। सहवक्ता के तौर पर मू. शीलबोधि ने अपने विचार रखें। कार्यक्रम में एक सत्र दलित, आदिवासी, ओबीसी और महिला साहित्य पर रखा गया तथा जिसमें बहुजन साहित्य के औचित्य पर चर्चा रखी गई। इस कार्यक्रम में प्रो. श्यायमसुंदर मिरजकर ने अपना मुख्य् वक्तव्य दिया। कार्यक्रम में तीन पुस्तकों पर चर्चा भी रखी गई जिसमें डॉ. रविंद्र श्रावस्ती ने डॉ. आ. ह. साळुंखे की पुस्ततक 'सर्वोत्तम भूमिपुत्र गौतम बुद्ध' पर अभिभाषण दिया, दूसरी पुस्तक मा. रूपनारायण सोनकर की आत्मरकथा 'नागमणि' पर प्रो. गोरख एन बनसोडे ने अभिभाषण दिया तथा मा. हितेश शाक्य की पुस्तक 'बुद्ध का मार्ग ही श्रेष्ठ क्यों' पर अभिभाषण मा. दिनेश बौद्ध ने दिया। साहित्य के कार्यक्रम में चर्चा के विषय 'अवधारणा की स्थापना में साहित्य की भूमिका' पर प्रो. नीलिमा बांगड़े, ईशकुमार गंगानिया व डॉ. कुसुम वियोगी आदि ने अपनी बात रखी। साहित्य के साथ सामाजिक विषय पर भी चर्चा रखी गई जिसमें भारतीय की 'प्राचीन कुल चिह्न समाज रचना' और 'कुलनाम' : उत्पत्ति और उद्विकास पर अपना विशेष व्याख्यान मा. राजेंद्र बाबू ढोके ने रखा तथा सहवक्ता के रूप में एड. मोनिका थी। महासंगीति में साहित्यिक कार्यक्रमों के आयोजन ने गंभीरता प्रदान की।

कलाचारिक सत्र का आगाज झारखंड राज्य से आए मूलनिवासी लालधन नायक और साथी द्वारा बांसुरी की मनमोहन तान, मादल की थाप और नगाड़े की गूंज से की गई। कलाचारिक सत्र में देश के विभिन्न राज्यों से आए हुए प्रतिनिधियों द्वारा विशेष प्रस्तुति हुई, जिसमें हरियाणा से डॉक्टर रतन कौर का नृत्य एवं मूलनिवासी गोपाल कश्यप के गीत, दिल्ली से मूलनिवासी अवधेश कुमार साधक के गीत एवं मूलनिवासी महेश कुमार पासवान के ढपली वादन, पंजाब से प्रगति कला केंद्र, जलालाबाद द्वारा नाटक प्रदर्शन एवं शेहरीया थिएटर ग्रुप, गुरदासपुर द्वारा नृत्य, महाराष्ट्र से धनगरी ढोल-ओवी, कोल्हापुर एवं लोककवि चंद्रकांत झुंझार के गीत, उत्तर प्रदेश से मूलनिवासी अहेम सिंह के गीत और मध्य प्रदेश से आदिवासी नृत्य एवं कबीर साहेब के भजन का संगायन हुआ। मुख्य आकर्षण झारखंड राज्य की ओर से दिखाई गई नाटक 'कब तक' रहा, इसके निर्देशक मूलनिवासी जीतराय हांसदा थे।

लोककवि वमन दादा कर्डक सभागार में कई कलाचारिक कार्यक्रम के साथ-साथ विशेष सभ्यता संवाद किया गया। इसमें मूलनिवासी आर. एल. ध्रुव (राष्ट्रीय अध्यक्ष, बामसेफ), मूलनिवासी आर. एस. राम (केंद्रीय कार्यकारिणी, बामसेफ), मूलनिवासी सुरेश द्रविड़ (केंद्रीय कार्यकारिणी सदस्य बामसेफ), एडवोकेट के. एस. चौहान (वरिष्ठ अधिवक्ता, सर्वोच्च न्यायालय, नई दिल्ली) मूलनिवासी हेमराज पटेल (केंद्रीय कार्यकारिणी सदस्य, पावर विंग) ने विशेष भूमिका निभाई।

फिल्म महोत्सव में विशेष मूलनिवासी फिल्मकारों की फिल्म की स्क्रीनिंग की गई जिसमें प्रमुख फिल्म व फिल्मकारों ने भाग लिया, उलगुलान फिल्म स्टूडियो में निर्देशक मूलनिवासी कैलाश चंद की फिल्म 'कल्लू गांधी' निर्देशक मूलनिवासी सोमनाथ वागमारे की फिल्म 'गाय और भारत' फिल्म

'ओरिजिन' निदेशक एवा दुवने, निर्देशक थरुन थंकाचन की फिल्म "Beyond the Unwritten", निर्देशक राम दास की फिल्म "Sathyappullu", निदेशक के. एस. किरण की फिल्म "Danshur" का प्रदर्शन किया गया।

महासंगीति के गुरु घासीदास सभागार में 'युवा अनुसंधान कारवां' का आयोजन किया गया। युवा शोधार्थियों द्वारा विभिन्नत सामाजिक विज्ञान विषयों में विषय विशेषज्ञ मू. के एस चौहान, मू. आर एस राम, प्रो. नीलिमा बागड़े के समक्ष प्रस्तुत किये गए। दिल्ली विश्वविद्यालय के राजनीति विभाग से मू. शिव पीलवान, दिल्ली विश्वविद्यालय के अर्थशास्त्र विभाग से पी.एचडी शोधार्थी मू. वैभव खरात, दारून हूदा इस्लोमिक विश्व विद्यालय से हसनूर इस्लाम, मदरसा तूल फरीया, पश्चिम बंगाल से ए के शराफत, इंदिरा गांधी राष्ट्रीय जनजाति विश्वविद्यालय, अमरकंटक से हेमचंद खोबर्डे, दिल्ली विश्वविद्यालय के राजनीति अनुभाग से मानव गावडे ने अपने-अपने शोधपत्र का वाचन किया। इस कार्यक्रम का मुख्य उद्देश्य युवाओं को सामाजिक परिवर्तन हेतु अनुसंधान के लिए प्रेरित करना था।

अजंता कला दालन में चित्रकला और शिल्पकला का विशेष प्रदर्शनी लगाई गई । इसमें मूलनिवासी नंदकुमार जोगदंड (प्रसिद्ध चित्रकार), मूलनिवासी महेंद्र खाजेकर (प्रसिद्ध रंगोलीकार एवं चित्रकार), मूलनिवासी ज्योति अबूटे (प्रसिद्ध शिल्पकार), मूलनिवासी अंकुश बनसोडे (प्रसिद्ध चित्रकार एवं रंगोलीकार) ने विशेष भूमिका निभाई।

सभी राज्यों के प्रतिनिधियों ने राज्यवार कलाचारिक झांकी का आयोजन जलूस में किया। यह जलूस बाबा साहेब डॉ. आंबेडकर की मूर्ति, सांची से सांची स्तूप तक अपने-अपने राज्यों के पारंपरिक वेशभूषा और गीत-संगीत के साथ निकाला गया, जो उत्कृष्ट सभ्यता रैली के रूप में सुशोभित हो रही थी।

मुख्य पंडाल में पंजाब राज्य द्वारा प्रस्तुत नाटक 'बाबासाहेब' और दिल्ली राज्य द्वारा प्रस्तुत नाटक 'गुलामी' का मंचन किया गया। शाम को प्रख्यात फूले-अंबेडकरवादी रैप गायक विपिन तातड और साथियों की प्रस्तुति मुख्य आकर्षण रही।

कलाचारिक प्रस्तुति के साथ विशेष प्रस्तुति के लिए विभिन्न राज्यों के कलाकारों एवं प्रतिनिधियों को सम्मानित एवं पुरस्कृत किया गया। समापन सत्र में मूलनिवासी सुनील कुमार (राष्ट्रीय अध्यक्ष , मूलनिवासी सभ्यता संघ) द्वारा लोगों को संघ की ओर से विशेष संदेश दिया गया। अंत में मूलनिवासी अजय कुमार मांझी (राज्य अध्यक्ष, मूलनिवासी सभ्यता संघ, मध्य प्रदेश) द्वारा लोगों का आभार व्यक्त किया गया और कार्यक्रम की समाप्ति की घोषणा की गई।

शेष भाग पृष्ठ 65

लगता है कि तुमने शायद अभी तक काम नहीं किया है समाज में उतरकर; इसलिए तुम समाज को ठीक से नहीं समझती हो। अभी तुम्हें बहुत कुछ सीखने की जरूरत है! लगता है कि तुम्हारे पास केवल कागजी-डिग्रियाँ ही हैं, समाज की समझ नहीं है तुम्हें। अब तुम यहाँ आ ही गई हो, तो मैं ध ीरे-धीरे सब सिखा दूँगा। तुमने अभी तक केवल यूनिवर्सिटी में काम किया है, और मैं जानता हूँ कि वहाँ कितना और क्या काम होता है। असली काम तुम यहाँ देखोगी और वह मैं तुम्हें सिखाऊँगा, इसलिए अभी तुम केवल चुपचाप देखा करो, मेरे काम में टाँग अड़ाने या ज्यादा बोलने की जरूरत नहीं है, जैसा तुमने आज किया! समझी? एनजीओ में अलग तरीके से काम होता है, यदि तुम्हें यहाँ रहना है, तो तुम्हें कुछ भी बोलने की बजाय जैसा मैं कहूँगा, वैसा ही करना होगा! तुम समझ ही रही होगी कि मैं क्या कह रहा हूँ।" एक साँस में सुरेश बहुत-सी बातें कह गया। उसके आहत अभिमान ने सुनीता को उसकी 'हैसियत', बतौर महिला और बतौर नई कर्मचारी,समझाते हुए और संस्था में अपनी ताकत का एहसास कराते हुए अपना फैसला सुना दिया। सुनीता अब इस संस्था में आने को लेकर असमंजस में पड़ चुकी थी, 'एजुकेशन फॉर सस्टेनेबल एंडइक्वेटेबल सोसाइटी' का नारा बुलंद करनेवाली यह संस्था किस तरह की 'सस्टेनेबल सोसाइटी' बनाने की कोशिश में है? क्या कोई समाज ऐसे ही 'सस्टेन' करेगा, जिसमें वंचित तबका अपने विरुद्ध हो रहे अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध सतत खमोशी की चादर ओढ़े रहे और सुरेश जैसे लोग 'समाज-सेवक', 'समाज-सुधारक' का चमकदार मुखौटा पहने हुए उन बेबस इंसानों के कल्याण के नाम पर अपनी मोटी कमाई करते हुए शान से घूमते रहें?❑

साहित्य सम्मान

२५-२७ अक्तूबर २०२५ को सांची, मध्य प्रदेश

आयोजक मूलनिवासी सभ्यता संघ

जीवन गौरव सम्मान
डॉ. तारा परमार

कथा वाङ्मय सम्मान
डॉ.कुसुम वियोगी

शब्दकोश वाङ्मय सम्मान
मा. हीरामन कोरवा

सभी सम्मानित साहित्यकारों को हार्दिक शुभकामना

कला व साहित्य की महासंगीति
२५-२७ अक्तूबर २०२५, सांची, मध्य प्रदेश